देखी सुनी

वर्ष 2009, अंक 10

संघर्ष के ज़ज्बे को सलाम !!
प्रिय साथियों !

इस बार के अंक में हम लेकर आए हैं हिंसा, हक़ व संघर्ष के मोती जिनसे हमने अपने इस अंक को पिरोया है। इस अंक में शामिल है महिला हिंसा, महिलाए व आर्थिक संकट, ड्रेस कोड के नाम पर थोपी नैतिकता, घर, स्कूल में यातना झेलते बच्चे, राजनीति के दरवाज़े पर महिलाओं की दस्तक, मानव अधिकारों के लिए जीत व जारी संघर्ष। कहीं बिनायक सेन की रिहाई, कहीं समलैंगिगता को मान्यता तो कहीं एरोम शर्मिला का अन्तहीन संघर्ष, वहीं एक नज़र विकट होती पानी की समस्या पर !

आशा करते हैं आपको हमारा यह प्रयास पसन्द आएगा। कृपया अपनी प्रतिक्रियाओं द्वारा हमारा मार्गदर्शन करते रहें।

जागोरी संदर्भ समूह

आर्थिक संकट और महिलाएं

कुमुदिनी पति

वैश्विक आर्थिक संकट और मंदी का महिलाओं के जीवन पर अधिक प्रभाव पड़ा है। महिला ही घर की संपूर्ण अर्थव्यवस्था को चलाती है। यही नहीं, अगर किसी प्रकार का संकट आया तो महिला ही सबसे पहले उसका सामना करने, त्याग करने के लिए आगे आती है। जहां महिला श्रम से जुड़ी है वहां भी उसे सबसे अधिक दबाया जाना संभव होता है, क्योंकि उसे 'मुख्य कमाने वाले' का दर्जा नहीं मिला है। वह हर परिस्थिति में समझौता कर लेती है। यही कारण है कि आज विश्व भर में औरतें अपने खर्च में कटौती करने में लग गई हैं। अपने बजट की पहले से योजना बनाना और फिजूलखर्ची बंद करना- यानी फैंसी कपड़े कम, पार्टियां और बाहर घूमना-फिरना कम, शृंगार की वस्तुओं और महंगे सौंदर्य प्रसाधनों पर खर्च कम और न जाने क्या-क्या कर रही हैं।

निजी कंपनी में काम करने वाली एक महिला कर्मचारी का कहना है- 'बिजली और ईंधन बचाने और मोबाइल के बजाय लैंडफोन इस्तेमाल करने की सोच रही हूं। मोबाइल पर बातें ज्यादा हो जाती हैं और हर समय हाथ में रहने से फोन करने की आदत भी पड़ जाती है।' त्योहारों में खाना-पीना, मौज-मस्ती और घर सजाना तो आम बात थी और फिर थोड़ी विंडो शॉपिंग भी तो होती थी। यह सब कम करना पड़ेगा। अब निजी क्षेत्र पर निर्भर मध्यवर्ग के एक बड़े हिस्से को, जो उपभोक्ता वस्तुओं का ग्राहक था, इन सब पर थोड़ा सोच-समझ कर बजट बनाना पड़ेगा। यह भी महिलाओं की परीक्षा है!

अमेरिका में एक सर्वे के अनुसार, आर्थिक मंदी को लेकर पुरुषों की अपेक्षा महिलाएं कहीं अधिक चिंतित हैं। इंटरनेट इस्तेमाल करने वाले पुरुषों में सत्ताईस फीसद यह सोचते हैं कि मंदी का काल छोटा होगा, जबकि केवल ग्यारह फीसद औरतें ऐसा सोचती हैं। अमेरिका में आज अगर बयासी फीसद 'जॉब लॉस' पुरुषों को झेलना पड़ रहा है तो इसके दो कारण हो सकते हैं- एक तो यह कि पुरुषों को ऐसे काम मिले थे, जिनमें मंदी का दबाव ज्यादा रहा है मसलन, विनिर्माण और निर्माण। जबकि महिलाएं शिक्षा, स्वास्थ्य और अन्य सेवा संबंधित कार्यों में रहीं, जहां जोखिम कम था। दूसरे, महिलाओं को बाहर के काम के साथ अपने घर के काम को मिलाना पड़ा है- जैसे बच्चों और बूढ़ों की देखरेख, घर का सारा प्रबंधन और घर से संबंधित ढेर सारे बाहर के काम।

इसलिए हम देख सकते हैं कि पिछले दशक की आर्थिक समृद्धि या उछाल के दौर में महिलाओं के रोजगार में इजाफे की दर पुरुषों की अपेक्षा वैसे ही कम थी। कई बार तो महिलाओं के रोजगार पाने की दर गिरती दिखाई दी। उस समय विकल्प था- कमाओ या न कमाओ। पर आज इन महिलाओं के पास रोटी का इंतजाम करने के प्रमुख दायित्व से बचने का कोई रास्ता नहीं है।

आज विश्व के अनेक अर्थशास्त्रियों का मानना है कि आने वाला समय महिला-मुखिया वाले परिवारों का हो सकता है। अमेरिका जैसे विकसित देश में इस 'रिवर्सल ऑफ जेंडर रोल्स' यानी लैंगिक आधार पर काम के विभाजन में बदलाव का क्या असर पड़ेगा यह अभी देखना है। पर यह सच है कि पतियों और बच्चों को इसका खमियाजा ही नहीं भुगतना पड़ेगा, बल्कि अपना मानस भी बदलने के लिए तैयार होना पड़ेगा। यही कारण है कि औरतें गैर-पारंपरिक कामों के बारे में भी सोच रही हैं- सेक्स वर्क और यहां तक कि अपने डिंब बेच कर अन्य बांझ औरतों को मां बनने में मदद करना, क्योंकि इसमें पैसा ठीक-ठाक मिल जाता है।

भारत में भी निजी और असंगठित क्षेत्रों में महिलाओं की बड़ी तादाद है। बानवे प्रतिशत असंगठित कामगारों में एक तिहाई औरतें हैं। सूचना प्रौद्योगिकी क्षेत्र में संकट गहराता जा रहा है, क्योंकि आउटसोर्सिंग पर ओबामा का शासन कड़ा रुख अपना रहा है। फैशन डिजाइनिंग, टेक्सटाइल डिजाइनिंग, वास्तुशिल्प, जेवर निर्माण, निर्यात या होटल प्रबंधन जैसे कामों में रोजगार के अवसर कम होने से महिलाओं के लिए आजीविका के विकल्प घटेंगे यह लगभग निश्चित है।

भारत के पुराने धंधों में भी यही स्थिति है। बिहार के भागलपुर जिले को लें- यहां के सिल्क उद्योग की ख्याति देश-विदेश तक पहुंच गई थी, क्योंकि घरों की साज-सज्जा का इससे बेहतर माल कहीं नहीं मिलता- चादर हों या पर्दे, कुशन कवर या फिर लैंपशेड। आज बिक्री के आदेश नहीं आते तो कताई करवाने वाले निर्यातक परेशान हैं और दूसरे धंधे ढूंढ़ रहे हैं, क्योंकि उन्हें डर है कि मुद्रास्फीति के चलते सिल्क का बाजार गिर गया है और निकट भविष्य में इस समस्या का हल निकलने की उम्मीद नहीं है। मंदी लंबी चली तो यह उद्योग पूरी तरह खत्म भी हो सकता है।

पावरलूम के मालिक आज दूसरे धंधे करके गुजारा करने को तैयार हैं। इसी तरह वाराणसी के बुनकरों की हालत, जो पहले से बिगड़ी हुई थी, आज बदतर स्थिति में हैं, क्योंकि यहां अधिकतर माल विदेशी या देशी रईसों के लिए बनता था। यहां करीब दो लाख हथकरघे और पौने एक लाख बिजली से संचालित करघे थे, जिन पर खूबसूरत बुनकरी का काम होता था। अब इस माल के खरीदार ही नहीं मिल रहे तो गुजरात से कच्चे माल की आपूर्ति भी घट गई। निर्यातकों के लिए सरकार राहत पैकेज दे भी दे तो क्या गारंटी कि इसका इस्तेमाल बुनकरों को राहत देने के लिए ही किया जाएगा?

बुनकर, जिनमें बड़ी संख्या में औरतें हैं, आज भुखमरी के चलते आत्महत्या करने के सिवा कुछ सोच नहीं पा रहे। अकेले वाराणसी में करीब पांच लाख बुनकर होंगे जो या तो हाथ से या फिर पावरलूम की मदद से बुनकरी करते हैं। ये अधिकतर अनपढ़ हैं इसलिए अन्य किसी काम के लायक भी नहीं हैं। एक बुनकर ने बताया कि पहले भी यहां खून, बच्चे, गुर्दे आदि बेचने से लेकर वेश्यावृत्ति और आत्महत्या की घटनाएं देखी जा चुकी हैं, क्योंकि कच्चा माल महंगा हो गया था तो माल बिना काम नहीं मिलता था।

मुसलिम औरतों के लिए यह काम आसान भी था, क्योंकि इसे घरों में भी किया जा सकता था। आज महीने भर में पंद्रह दिन काम मिल जाए तो बड़ी बात होगी। पांच सौ रुपए कमाने वाले को अब चार सौ रुपए मिल रहे हैं और साड़ियों की लंबाई भी बढ़ती जा रही है तो काम ज्यादा करना पड़ता है। और कई निर्यातक तो इस काम को बंद कर रहे हैं।

गरीब परिवार, जो एक हद तक सरकारी सहायता पर निर्भर होते हैं, टूट गए हैं। सस्ता राशन, अंत्योदय योजना, बच्चों के लिए निःशुल्क शिक्षा आदि कैसे मिले? वर्तमान समय में इसमें भी इतना भ्रष्टाचार है कि गरीबी से बदहाल लोग जिंदा रहने के लिए कुछ भी करने को तैयार हैं- रिक्शा चलाने से लेकर ठेले-खोमचे लगाने और चाय बेचने तक और जब कोई रास्ता नहीं दिखता तो मर जाना चाहते हैं। कपड़ा निर्माण और रेडीमेड कपड़ों के उद्योग भी बंद हो रहे हैं, क्योंकि निर्यात में कमी आ जाने से कंपनियों का माल इकट्ठा हो गया। घाटे पर चलने से बेहतर है कि उद्योग बंद कर दूसरा धंधा पकड़ो, यही नियति बन गई है। पर कामगार के लिए कोई चारा नहीं है।

निर्यात में भारत का दर्जा बांग्लादेश से भी नीचे आ गया है और अब तो विएतनाम भी भारत को जल्द पीछे छोड़ने वाला है। निर्यात में 2006-07 से पिछले साल ग्यारह फीसद की गिरावट आई और 2007-08 की अपेक्षा इस साल 9.4 फीसद की और गिरावट आने वाली है। निर्यातक कह रहे हैं कि केवल रुकी हुई सुविधाओं को देने और कुछ सुविधाओं की कटौती पर रोक लगा देने से काम नहीं चलेगा, क्योंकि मार तगड़ी है। कारीगरों-कामगारों को दूसरे काम के कौशल का प्रशिक्षण देने की बात भी चल रही है। पर यह भी व्यावहारिक नहीं लगता, क्योंकि केवल रेडीमेड वस्त्र उद्योग में साठ लाख मजदूर हैं, जिनमें अधिकतर महिलाएं हैं।

आंध्र प्रदेश के करीमनगर जिले के सिरसिला कस्बे में बारह हजार परिवार पूरी तरह से पावरलूम द्वारा बुनाई पर निर्भर थे, पर अब यह उद्योग खत्म हो रहा है। पिछले वर्ष चार बुनकर भूख से मरे और दो ने आत्महत्या कर ली। पर ऐसी स्थिति से मुकाबला करने के लिए जिस इच्छाशक्ति की जरूरत है उसकी जगह कुछ कामचलाऊ राहत दी जा रही है- यह कारगर होने वाला नहीं है। वैश्वीकरण का जन-विरोधी चेहरा अब धीरे-धीरे बेपर्दा हो रहा है। सरकार को यह सुनिश्चित करना होगा कि बुनकरों को सस्ते से सस्ते दाम पर कच्चा माल मिले, सस्ती दर पर बिजली की अनवरत आपूर्ति हो, बने हुए माल की बिक्री की गारंटी हो, अंत्योदय योजना के तहत गरीबों को सुविधा मिले, क्योंकि केवल मालिकों को छूट देने से आत्महत्या कर रहे बुनकरों को राहत नहीं मिल सकती।

कोयंबटूर के बारह हजार कपड़ा बुनकर कहते हैं कि जो लोग कपड़ा उद्योग चलाते हैं वे पावरलूम इकाइयों में कार्यरत मजदूरों का वेतन नहीं बढ़ा रहे और उनके पास यह बहाना रहता है कि इतना अधिक माल जमा हो गया है कि अब काम ही नहीं है। इससे औरतें और बच्चे बुरी तरह प्रभावित हैं। बंगलोर में भी एक लाख पचास हजार रेडिमेड कपड़ा उद्योगकर्मी बेराजगार हो गए, जिनमें अधिकतर महिलाएं हैं। अमेरिका को जो निर्यात होते हैं उनमें इस साल करीब बीस फीसद की कमी आ गई। रेडीमेड वस्त्र उद्योग में अट्ठावन लाख लोग काम करते हैं। उनमें अभी कितने और लोग बेरोजगार होंगे, पता नहीं, क्योंकि मंदी का दौर लंबा चल सकता है। तिरुपुर में भी लगभग तीस हजार गार्मेंट उद्योग-कर्मी बेरोजगार हो चुके हैं।

कश्मीर के कालीन उद्योग पर भी मंदी की मार पड़ रही है। यहां एक लाख पचास हजार श्रमिक बदहाली के कगार पर पहुंच गए हैं। इसके अलावा पचीस हजार लोग इस धंधे से अन्य तरीकों से जुड़े हैं जो भुखमरी के शिकार होंगे। तीस हजार मशीनों से पिछले साल पांच-छह करोड़ रुपए का माल बना और देशी-विदेशी बाजारों में बिका। पर अब यह दो सौ करोड़ तक गिर गया है, क्योंकि अब मांग घट गई है।

भारत के आभूषण भी अच्छा कारोबार करते थे। भारत से इसका चालीस फीसद निर्यात अमेरिका को होता था और इस काम में भी अधिकतर महिलाएं लगी हुई थीं। अब संकट बढ़ रहा है तो बाईस फीसद की गिरावट पिछले साल अप्रैल से सितंबर तक के बीच आ गई है। निर्माण मजदूर महिलाओं को भी काम नहीं मिलेगा।

भारत के वित्तमंत्री ऐसी परिस्थिति में चाहे जो कहें- 'स्लोडाउन' या 'रिसेशन'- देश के कामगारों के समक्ष आजाविका की बड़ी चुनौती है। औरतों के लिए संकट और भी व्यापक है, क्योंकि उन्हें किसी अन्य काम में कुशल बनाने के लिए कुछ करना बहुत ही कठिन होगा। विदेशों में भले महिलाओं को मर्दों से अधिक काम मिलता दिखे, हमारे देश में स्थिति भिन्न है। बिना किसी सामाजिक सुरक्षा के औरतों को हाशिये पर धकेल दिया जाएगा। इसलिए अर्थव्यवस्था के स्त्रियों से जुड़े पहलुओं पर गंभीर अध्ययन और ठोस कदम जरूरी हैं।

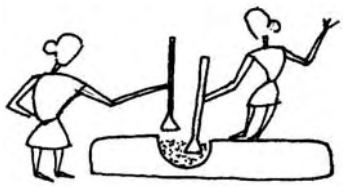

कब तक जलती रहेंगी महिलाएं

मुद्दा

अंजलि सिन्हा

भारत में सबसे अधिक युवा महिलाएं जल कर मरती हैं। अन्तरराष्ट्रीय स्तर का मेडिकल जर्नल 'लान्सेट' में छपे ताजे अध्ययन की रिपोर्ट चर्चा का विषय बनी है। मालूम हो कि जलने की इन घटनाओं में 'रसोई की दुर्घटनाएं, आत्मदाह या घरेलू हिंसा के विभिन्न प्रकार' शामिल रहते हैं। अध्ययन के मुताबिक 15 से 34 साल के उम्र की महिलाओं की संख्या मरनेवालों में सबसे अधिक है। अध्ययन में पाया गया कि 1.63 लाख महिलाएं सालाना जल कर मरती है जो कि सालाना सभी मौतों का 2 फीसद है और इसमें 1.06 लाख महिलाएं युवा हैं। अगर हम भारतीय पुलिस के आंकड़ों पर गौर करें जो 'नेशनल क्राइम रेकार्ड ब्यूरो' के आंकड़ों पर आधारित होते हैं तो पता चलता है कि इसमें मौतों की संख्या काफी कम बतायी गयी है। ब्यूरो के आंकड़ों की तुलना में 'लान्सेट' के आंकड़े छह गुना ज्यादा हैं।

अगर जल कर मरनेवालों में स्त्रियों एव पुरुषों का अनुपात देखें तो पता चलता है कि पुरुषों की तुलना में तीन गुना महिलाएं जल कर मरती हैं। इन मौतों में अधिकांश रसोई में होने वाली दुर्घटनाओं के कारण जलना बताया गया है जिसमें अलग-अलग कारणों से हत्या और आत्महत्या दोनों शामिल हैं। यह आंकड़ा वाकई अचम्भित करनेवाला है कि हमारे देश में इतनी बड़ी संख्या में महिलाएं जल कर मर जाती हैं और समाज में यह मुद्दा उद्वेलित करनेवाला मसला नहीं बन सका है। किसी भी अस्पताल के बर्न वार्ड का जायजा लेकर इस हकीकत से रूबरू हुआ जा सकता है कि वहां जली या झुलसी महिलाएं अधिक हैं या पुरुष और वे किस तरह जले हैं। पुरुष भी जलते हैं लेकिने कभी दंगों की आग में तो कभी जातीय हिंसा की चपेट में।

कुछ साल पहले गुजरात से खबर आयी थी कि वहां हर साल 300 से अधिक महिलाओं की स्टोव फटने से मौतें हुई। इन आंकड़ों से चिन्तित किसी पत्रकार ने जब थोड़ी तहकीकात की तो पता चला कि ये मौतें एक ऐसे समय में हो रही हैं जब पम्प करनेवाले स्टोव की तुलना में -जिनके फटने की सम्भावना होती है- बाती स्टोव का प्रयोग होता है जिसके फटने की सम्भावना नहीं होती है। जाहिर है कि ये तमाम मौतें सन्देहास्पद कही जा सकती हैं जिसमें कहीं न कहीं उनके 'आत्मीय जनों' का हाथ दिख सकता है। ताज्जुब की बात यह है कि हर साल ऐसी घटनाओं के रेकार्ड पुलिस थानों में दर्ज होने के बावजूद उन्हें इन मौतों पर सन्देह नहीं होता और दुर्घटना का मामला दर्ज कर फाइल बन्द की जाती है।

हमारे समाज में जला देने या जल जाने की प्रथा इतनी प्रचलित कैसे हुई। मनु के विधान पर संचालित समाज में अपने पति की मौत के बाद उसकी चिता पर उसकी पत्नी खुद आत्महत्या कर लेती थी या परम्परा तथा रिवाज के नाम पर उसे जलने के लिए मजबूर किया जाता था। मुगलकाल में राजपूताने में जौहरव्रत का उल्लेख मिलता है जहां राजा की हार होने पर उसकी रानियां आग में कूद कर जौहर कर लेती थीं। निश्चित ही हमारे धार्मिक रीतिरिवाजों में कहीं इसकी स्वीकृति है जैसे हवन करना, होलिका जलाना आदि। कहा जाता है कि कुछ का पीड़ा भरा जीवन तो जलने से खत्म हो जाता है, लेकिन कुछ जो जलती तो नहीं है लेकिन विभिन्न प्रकार के उत्पीड़नों के चलते वह ठीक से जीती भी नहीं हैं। ऐसों का तो कोई आंकड़ा मौजूद नहीं है। दहेज का ही नहीं बल्कि 'असुन्दर' होने का, बेटी पैदा करने का, घर से निकाले जाने का आदि कई प्रकार के उत्पीड़नों की वे शिकार होती हैं।

सोचनेवाली बात है कि यदि किसी व्यक्ति से किसी का तालमेल नहीं बैठता हो, जीवनशैली में लोग एक-दूसरे के साथ समझौता नहीं कर पा रहे हों तो अलग होने का रास्ता चुनने के बजाय हत्या जैसे अपराध को अंजाम क्यों देते हैं। तलाक की बढ़ती दर को लेकर अक्सर चिन्ता प्रकट की जाती है लेकिन यदि यह विकल्प नहीं होगा तो अपराध और बढ़ेंगे। मारनेवाला व्यक्ति या तो अपने अपराध के अंजाम पर पहले नहीं सोच पाता है या बच निकलने की गुंजाइश होती है इसलिए भी लोग ऐसा कर लेते हैं। लड़की को खुद तथा उसके मायके वालों को भी समस्या का अन्दाजा तो होता है लेकिन वे भी सही समाधान निकालने के बजाय इन्तजार करते हैं कि सब ठीक हो जाएगा।

दरअसल होना तो यही चाहिए कि ससुरालवालों की छोटी से छोटी मांग का प्रतिरोध शुरू से हो, जबकि लड़कियां भी प्रयास करती हैं कि उनकी मांगें पूरी हों और उसके सहारे ससुराल में उनका मान-सम्मान बढ़े। उन्हें भी अब यह सीखने और जानने की जरूरत है कि उनका सम्मान और आत्मसम्मान इसी में है कि वे स्वयं अपनी घर-गृहस्थी चलानेलायक बनें, न इस घर (मायके) का आसरा रखें न उस घर (ससुराल) का। ऐसी स्थिति में यदि कोई ससुराली कुछ मांग करे तो उसे टके सा जवाब मिले और आइन्दा ऐसा सोचे भी न इसका भरपूर संकेत पहले ही मिल जाए।

स्त्री की जगह

सुभाष शर्मा

आधी दुनिया

महिलाओं की दुर्दशा की बात करने का एक नजरिया यह हो सकता है कि उनके खिलाफ हो रहे अपराधों में कमी हो रही है या वृद्धि। फिर इन अपराधों में अपराधियों को दंड मिल रहा है या नहीं। भारत सरकार के गृह मंत्रालय के तहत काम करने वाली संस्था राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो ने अपनी ताजा रपट में कहा है कि सन 2005 में महिलाओं के खिलाफ अपराध के कुल एक लाख पचपन हजार मामले दर्ज किए गए थे जिनमें से सिर्फ बीस फीसद दंडित किए गए। 2006 में ऐसे मामलों की संख्या बढ़ कर एक लाख चौंसठ हजार और 2007 में एक लाख पचासी हजार हो गई जिसमें क्रमशः साढ़े सत्रह फीसद और पंद्रह फीसद को सजा दिलाई जा सकी। साफ है कि महिलाओं पर होने वाले अपराधों में बढ़ोतरी हो रही है, लेकिन इन अपराधों को अंजाम देने वालों को सजा मिलने की दर निरंतर घट रही है।

गौरतलब है कि ग्रामीण इलाकों में लोकलाज, अज्ञान या पुलिस द्वारा परेशान किए जाने के भय से बहुत सारी महिलाएं अपने खिलाफ अत्याचारों के मामले दर्ज नहीं करातीं, वरना कुल संख्या निश्चित रूप से मौजूदा के मुकाबले काफी ज्यादा होगी। हालांकि पूर्वाग्रह, पारिवारिक रंजिश, राजनीतिक प्रतिद्वंद्विता, व्यापारिक स्पर्धा और प्रतिशोध के कारण भी महिलाओं को मोहरा बना कर कई मामले दायर किए जाते हैं। दूसरी ओर, यह तथ्य है कि भारत में हर घंटे औसतन दो महिलाओं का बलात्कार होता है। सन 2007 में बलात्कार के बीस हजार सात सौ सैंतीस मामले दर्ज किए गए जो 2006 की तुलना में सात फीसद अधिक है। एक बात खासतौर पर उल्लेखनीय है कि 2007 में कई बुजुर्ग महिलाओं को भी यौन-उत्पीड़न का शिकार होना पड़ा।

दूसरी ओर, बाल विवाह जैसे कई सामाजिक रीति-रिवाज महिलाओं के विरुद्ध हैं। राजस्थान या देश के दूसरे राज्यों में होने वाले बाल विवाहों की तो दूर, राजधानी दिल्ली तक में बड़े पैमाने पर लड़कियों की शादी अठारह वर्ष के पहले ही कर दी जाती है। कम उम्र में शादी रोकने के लिए कानून पर्याप्त नहीं है। कच्ची उम्र में शादी होने से प्रजनन संबंधी कठिनाइयां होती हैं और शिशु कम वजन का और कम लंबाई का रह जाता है। प्रसव के दौरान गर्भवती स्त्रियों की मौत तक हो जाती है। भारत में हर साल प्रति एक लाख पर करीब चार सौ महिलाएं प्रजनन के दौरान मर जाती हैं। परिवार कल्याण के लिए चलाए जाने वाले कार्यक्रमों से वास्तविक जरूरतमंदों को लाभ नहीं मिल पाता।

एक विडंबना यह है कि आजकल शारीरिक चुस्ती बनाए रखने के वहम में बहुत सारी महिलाएं अपने शिशु को स्तनपान नहीं कराना चाहतीं। चूंकि मां का दूध पौष्टिक और रोग-प्रतिरोधी होता है, इसलिए स्तनपान के अभाव में बच्चे आमतौर पर दुर्बलता या बीमारी के शिकार हो जाते हैं। लेकिन इन सब में सबसे बड़ी समस्या कन्या भ्रूण हत्या की है। दुर्भाग्यवश यह प्रवृत्ति विकसित राज्यों या शहरों मसलन गुजरात, पंजाब, दिल्ली, हरियाणा में अधिक पाई जाती है जिसके कारण इन इलाकों में लिंगानुपात चिंतनीय स्तर तक घट गया है। इससे यह भी जाहिर होता है कि केवल आर्थिक विकास या नई तकनीकी से महिलाओं की मुक्ति संभव नहीं। हालांकि कई लोग मानते हैं कि स्त्री सशक्तीकरण और जनसंख्या घटाने में गर्भपात की अच्छी भूमिका रही है। इसलिए सभी गर्भपातों को संदेह की दृष्टि से नहीं देखा जाना चाहिए।

उत्तर भारत में स्त्रियों को लेकर एक कहावत है 'बेटी मरे तो मरे कुंआर।' यह अपने आप में महिलाओं के प्रति समाज के नजरिए को साफ करने के लिए काफी है। उसके साथ लालन-पालन, शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार आदि सभी स्तरों पर भेदभाव बरता जाता है। उससे अन्य भाई-बहनों की देख-रेख कराई जाती है और शुरू से ही उसे 'पराया धन' समझा जाता है क्योंकि उसके विवाह में ढेर सारा दहेज देना पड़ता है और वह दूसरे घर चली जाती है। जिन समुदायों में दहेज प्रथा नहीं है या केरल के मालाबार के नायर समाज और पूर्वोत्तर भारत के गारो, खासी और जयंतिया जनजाति समाजों में जहां मातृसत्तात्मक समाज है वहां स्त्री की स्थिति दोयम दर्जे की नहीं है। इसके अलावा सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक बेहतरी के कारण वहां लिंगानुपात संतुलित है क्योंकि उस क्षेत्र में कन्या जन्म को अभिशाप नहीं माना जाता।

आखिरी सवाल आर्थिक आत्मनिर्भरता का है। जो महिला कमाने लगती है उसके सोच में काफी परिवर्तन आ जाता है और कार्यस्थल पर शोषण के अपवादों को छोड़ कर, वह स्वतंत्रचेता हो जाती है। परिवार-समुदाय या समाज का रुख भी उसके प्रति बदल जाता है। यानी सामाजिक-आर्थिक रूप से वह बेटी की जगह बेटे के तौर पर देखी जाती है। यह स्थिति अगर आम हो जाए तभी स्त्रियों की स्थिति में आमूल परिवर्तन आ पाएगा।

दमन से निजात नहीं

आधी दुनिया

ज्ञान प्रकाश पिलानिया

यह घोर विडंबना है कि देश के हर प्रदेश में महिला आयोगों, मानवाधिकार आयोगों, और महिला थानों की स्थापना के बावजूद महिलाओं पर अत्याचारों का बोलबाला है। आखिर कब तक दहेज की मांग से उत्पीड़ित बेटियां फांसी लगाकर आत्महत्या करती रहेंगी? सजा दिलाने के लिए कानून के रक्षकों को पहल करनी होगी। परंतु समाज को भी ऐसे लोगों के खिलाफ खड़ा होना पड़ेगा। महिला अत्याचार के मामलों में सामाजिक संगठनों की झंडाबरदारी और पुलिस की संवेदनशीलता के दावों के बावजूद अबलाओं को अकाल मौत के मुंह में ढकेलने का कुचक्र अनवरत जारी है।

बेचारी औरत घर में भी सुरक्षित नहीं है। 'महिलाओं के खिलाफ घरेलू हिंसा पुरुषों का दृष्टिकोण' विषय पर पर हुए एक अध्ययन में बताया गया है कि चालीस प्रतिशत महिलाओं को घर की चारदीवारी में भी, किसी न किसी रूप में शारीरिक हिंसा का सामना करना पड़ता है। इनमें से भी आधी महिलाओं के साथ ऐसी घटनाएं गर्भावस्था के दौरान होती हैं। राष्ट्रीय महिला आयोग की रिपोर्ट के मुताबिक 69.5 फीसद युवतियों की शादी अठारह से भी कम उम्र में हो जाती है और प्रशासन मूकदर्शन बना रहता है। बेचारी अबोध बालिका सास और पति द्वारा बहुत प्रताड़ित की जाती है। आधी आबादी, औरत अपने ही घर में लहूलुहान है। उसे सताया जाता है, जलाया जाता है और मार भी दिया जाता है। पति परमेश्वर, चाहे मारे-पीटे, दुत्कारे या घर के दरवाजे के बाहर धकेल दे, वह चौखट से ही बंधी रहेगी। सुहागन के रूप में आई है, शव के रूप में ही विदा होगी। देह त्याग किया तो श्मशान स्थल पर ही रिश्ते और दहेज के सौदे पति के लिए पटने लगेंगे। नई बहू से घर भी दमकेगा और दहेज से घर की तिजोरी भी भरेगी।

राष्ट्र में औसतन हर छह मिनट में कोई न कोई महिला किसी न किसी तरह के अपराध की चपेट में आ जाती है। हर सैंतालीस मिनट में एक महिला बलात्कार की शिकार होती है, जबकि हर चवालीस मिनट में एक महिला का अपहरण किया जाता है। हर तीसरी महिला अपने पति या किसी संबंधी के अत्याचार का सामना कर रही है।

घर के बाहर, बेबस महिला, असुरक्षित, डरी-सहमी रहती है। उसे रोजाना ही छेड़छाड़ का शिकार बनना पड़ता है। बस यात्रा में गुंडे चुटकी काटते हैं, फब्तियां कसते हैं। कामकाजी महिलाओं को भी सहकर्मियों के ताने और बॉस के द्वारा यौन उत्पीड़न भी सहने पड़ते हैं। उच्चतम न्यायालय के दिशा-निर्देश के बावजूद अभी तक कामकाजी महिलाओं के यौन उत्पीड़न की रोकथाम के लिए न ही कोई सार्थक कदम उठाए गए हैं और नहीं कोई सक्षम कानून बनाया गया है। रक्षक ही भक्षक बन गए हैं। मंत्री से संत्री तक, सभी नारी का शोषण करते हैं। शिकायत करने वाली महिला की शामत है। काम के बदले शरीर की मांग के किस्से दबी जबान से ही वे सुना पाती हैं। नौकरी छोड़ नहीं सकती और तबादले की तलवार भी सिर पर लटकती रहती है। दफ्तर में दमन से कैसे मुकाबले करें? थाने, कार्यस्थल, अस्पतालों, धार्मिक स्थलों पर बलात्कार की खबरें आम हैं। जब वे शिकायत का साहस जुटाती हैं तो बदनामी का भय दिखा कर चुप करा दिया जाता है। फिर भी साहस जुटा लें तो बदनामी कर आत्महत्या को विवश किया जाता है कि शरीफ होती है तो थाने-अदालत में जी क्या? थाने से लेकर न्यायपालिका में बार-बार पुरुषों की भीड़ में शाब्दिक बलात्कार किया जाता है। उस अस्मत लुटी महिला की व्यथा-कथा अंतहीन है, हृदय विदारक है, कारुणिक है।

राष्ट्र में औसतन हर छह मिनट में कोई न कोई महिला किसी न किसी तरह के अपराध की चपेट में आ जाती है। हर सैंतालीस मिनट में एक महिला बलात्कार की शिकार होती है, जबकि हर चवालीस मिनट में एक महिला का अपहरण किया जाता है। हर तीसरी महिला अपने पति या किसी संबंधी के अत्याचार का सामना कर रही है। हमारे भारत महान में हर रोज सैंतालीस बलात्कार के अपराध दर्ज होते हैं, उन्नीस महिलाओं की दहेज-मृत्यु होती है, इकतीस का अपहरण होता है, 113 यौन उत्पीड़न, की शिकार होती हैं। चौरासी से छेड़छाड़ की जाती है। राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो के अनुसार महिलाओं के साथ होने वाले अपराधों की संख्या सालाना लाखों पहुंच गई है। उत्पीड़न का यह सिलसिला लगातार तेजी से बढ़ता जा रहा है। ये तो महज सरकारी आंकड़े हैं, पर हकीकत अधिक भयावह हो सकती है।

महिला असुरक्षा का यह लेखा-जोखा केवल अर्धसत्य को उद्घाटित करता है। हालत और अधिक भयावह हो सकती है। शर्म, संकोच, भय और लोक-लाज के कारण नारी-उत्पीड़न के सारे मामले रिपोर्ट नहीं होते। अखबारों में भी नहीं आते। जाने कितनी औरतों की उत्पीड़न की दास्तानें पुलिस रोजनामचों और अखबारों की सुर्खियों में होती हुई वक्त के गर्दो-गुबार में कहीं गुम हो गईं। बहुत-सी वारदात की तो हमें खबर भी नहीं हो पाती। बहुत से मुकदमे रिपोर्ट नहीं होते। कुछ रिपोर्ट होने पर भी दर्ज नहीं होते। औरत की असुरक्षा का भयावह मंजर, सभ्य समाज के दामन पर एक बदनुमा धब्बा है, कानून के मुंह पर तमाचा है। फिर भी किसी को शर्म क्यों नहीं आती? बकौल दुष्यंत कुमारः हो गई है पीर पर्वत सी पिघलनी चाहिए, इस हिमालय से कोई गंगा निकलनी चाहिए। ❑

ड्रेस कोड या भेदभाव का बहाना

मुद्दा

कृष्ण प्रताप सिंह

प्रतिकूल सरकारी रुख के कारण अब शायद उत्तर प्रदेश के कतिपय डिग्री कालेजों के प्राचार्यों द्वारा इन कालेजों की शिक्षिकाओं व छात्राओं पर एकतरफा तौर पर ड्रेस कोड थोपने की कोशिश अंजाम तक न पहुंच पाए। लेकिन जिस तरह न अपील, न दलील, न वकील की तर्ज पर उन्होंने इस संबंध में तानाशाही फरमान जारी किया, उसने एक बार फिर साफ कर दिया है कि अभी वह दिन बहुत दूर है जब ऐसे मामलों में फैसला लेते वक्त मर्दवादी तेवर से परहेज बरतते हुए तर्कसंगत सोच अपनायी जाएगी।

प्राचार्यों के तेवर को इसी बात से समझा जा सकता है कि एकतरफा ड्रेस कोड लागू करने की अपनी कोशिशों के लिए उन्होंने न सिर्फ प्राचार्य परिषद नामक एक गैरपंजीकृत गैरमान्यताप्राप्त संगठन का सहारा लिया बल्कि विश्वविद्यालय कानून की अवज्ञा भी कर डाली। निश्चित रूप से ऐसा उन्होंने अनजाने में नहीं, जानबूझकर किया। उनका तर्क था कि छात्राएं शालीन पहनावे में आएंगी तो उनके परिसरों में भी शालीनता का राज रहेगा। उनकी शालीनता की परिभाषा में स्वाभाविक ही जींस शामिल नही थी। इसके पीछे का छिपा हुआ सच यह था कि मर्दवादी नैतिकता में जींसधारी महिलाएं, चाहे वे छात्राएं ही क्यों न हों, कुर्ते सलवारधारी महिलाओं जितनी आसानी से फिट नहीं होतीं क्योंकि जींस पहनकर वे भड़काऊ भले ही नजर न आएं गऊ या भोली-भाली तो नहीं ही नजर आतीं और बेकाबू होने लगें तो मर्दवादियों की आंखों में खटकने लग जाती हैं। प्राचार्यों की ओर से यह ड्रेस कोड आया तो पहले तो प्रदेश सरकार ने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया। बाद में कई महिला अधिकार संगठनों ने इसका मुखर विरोध शुरू किया तो उसकी नींद टूटी और उच्च शिक्षा विभाग के सचिव ने इसे जारी करने वाले प्राचार्यो के खिलाफ वैधानिक कार्यवाही के निर्देश दे दिए और साफ किया कि डिग्री कालेजों में वस्त्र नियमन का कोई भी आदेश अस्तित्व में नहीं है, न ही ऐसा नियमन करने का प्राचार्यों को कोई अधिकार है। लेकिन तब तक विवाद बढ़ चुका था।

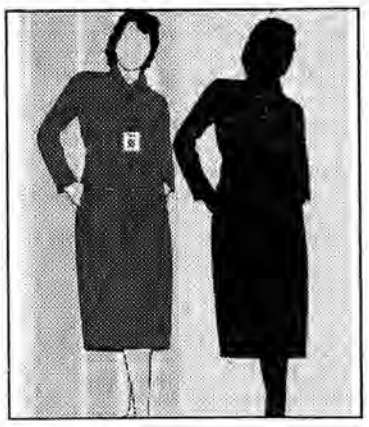

पल भर को मान लें कि दूसरे संस्थानों के प्रमुखों की तरह इन प्राचार्यो को भी अपने संस्थान वालों के लिए ड्रेस चुनने का अधिकार है, जैसे छोटे बच्चों के स्कूलों में इसे सख्ती से लागू किया जाता है, तो भी इस के पीछे छिपी लैंगिक भेदभाव की बदनीयती के पक्ष में खड़ा नहीं हुआ जा सकता। यह बदनीयती संस्कृति के स्वयंभू स्वयंसेवकों की पांत में खड़ा कर देती है जो संस्कृति को खतरे के नाम पर जब भी, जहां भी चाहते हैं, सक्रिय हो जाते हैं और तमाम नैतिकताओं व शुचिताओं की जिम्मेदारी दूसरे लिंग पर डाल देते हैं। दरअसल ऐसे माहौल में जब कोई ड्रेस कोड थोपा जाता है तो उसका उद्देश्य सिर्फ महिलाओं के पहनावे की बाबत फैसला करना या उसे नियंत्रित करना नहीं होता। यह महिलाओं के विरुद्ध होने वाले अपराधों के लिए प्रकारान्तर से उन्हें ही जिम्मेदार ठहराना ही होता है। मर्दवादियों को लगता है कि इससे महिलाओं के विरुद्ध होने वाले अपराधों की सामाजिक शर्म से पीछा छुड़ाने में मददगार कई तर्क उनके हाथ आ जाते हैं। आश्चर्य नहीं कि ड्रेस कोड की इस नई मुहिम का केन्द्र भी वह कानपुर नगर था जिसे उत्तर प्रदेश में महिलाओं के लिए सबसे असुरक्षित बताया जाता है। ड्रेस कोड समर्थक प्राचार्यो के तर्क भी कुछ ऐसे ही थे–कालेज परियों की तरह सजधज कर आने की जगह नहीं है, छात्राएं तितलियां बनकर आएंगी तो भौंरे मंडराएंगे ही या फैशन परेड होगी तो छेड़-छाड़ को कैसे नियत्रित किया जा सकेगा।

इन तर्कों की कलई तब खुल जाती है जब मजनुओं पर छात्राओं के शालीन पहनावे का कोई असर नहीं होता और वारदातें बताती हैं कि जींसधारी छात्राओं के बजाय कुर्ता सलवारधारी भोली-भाली छात्राएं ही उनके लिए सबसे साफ्ट टार्गेट होती हैं। अब ये प्राचार्य समझते नहीं या जानबूझकर समझना नहीं चाहते कि जींस अगर छात्राओं में आत्मरक्षा का विश्वास जगाती है और अपनी जरूरतों के ज्यादा माफिक नजर आती है, तो उसके आड़े आने की उन्हें क्या जरूरत है? क्यों न इस बात को उन्हीं पर छोड़ दिया जाए कि उन्हें जो भी सुविधाजनक लगे और जैसी भी ड्रेस में उनका विश्वास हो, वे उसमें कालेज आएं।

प्राचार्यो की ओर से कम से कम इतनी तमीज तो बरती ही जानी चाहिए कि ड्रेस कोड एकतरफा न हो और न ही उसे लैंगिक गैरबराबरी थोपने का बहाना बनाया जाए। अगर वह छात्राओं व शिक्षिकाओं पर लागू हो तो छात्रों व शिक्षकों पर भी उसी रूप में लागू किया जाए जैसे पुलिस, अर्द्धसैनिक बलों व सेना में पुरुषों व महिलाओं के लिए एक जैसी यूनिफार्म से काम चलाया जाता है। यह डिग्री कॉलेजों में क्यों नहीं हो सकता?

कानपुर कॉलेज में ड्रेस कोड

मुद्दा

अंजलि सिन्हा

कानपुर के कई कॉलेजों ने नए सत्र में कालेज खुलने से पहले ही छात्राओं को उनके ड्रेस के बारे में चेताया है तथा फरमान जारी किया है कि वे अब जीन्स और टॉप में कॉलेज न आएं। न सिर्फ कॉलेज प्रशासन बल्कि जिला प्रशासन ने भी इस पाबन्दी पर सहमति जताई है। दयानन्द गर्ल्स डिग्री कॉलेज, आचार्य नरेन्द्र देव कॉलेज, सेन बालिका कॉलेज तथा जोहारी देवी डिग्री कालेज ने ऐसा निर्देश जारी किया है। दयानन्द डिग्री कॉलेज की प्रिंसिपल ने कहा कि अक्सर लड़कियां तंग कपड़ों में कॉलेज आ जाती हैं। छेड़खानी की बढ़ती घटनाओं को देखते हुए हमारी जिम्मेदारी बन जाती है कि हम बचाव के लिए कदम उठाएं। अन्य कालेजों के प्रशासन की तरफ से भी ऐसा ही कारण बताया गया। शहर की एसडीएम शकुन्तला देवी ने कहा कि कपड़े हर सीजन में शालीन होने चाहिए। पढ़ने वाली छात्राओं की प्रतिक्रिया मिलीजुली आयी है।

ज्ञात हो कि कानपुर में पिछले दिनों दो विदेशी महिलाओं के साथ बदसलूकी तथा यौनहिंसा की घटना सामने आयी थी तथा दूसरी घटना में दो लड़कियों के साथ सड़क पर छेड़खानी करते कपड़े फाड़ दिए गए थे। कहां तो इस घटना पर शहर उद्वेलित होता, शोहदों को काबू में करने के लिए तथा दूसरे शोहदे भी ऐसी हिम्मत न जुटा पाएं, इसके लिए पुलिस पर दबाव बनाता लेकिन उल्टे एसडीएम महोदया ने लड़कियों को ही नसीहत देकर अपनी जिम्मेदारी से बचने का प्रयास किया है। यहां तक कि लड़कियों को साथ में मोबाइल फोन रखने पर भी मनाही की गयी है। दयानन्द कालेज के प्रिंसिपल पल ने अपने स्टाफ को भी कॉलेज परिसर में मोबाइल का इस्तेमाल न्यूनतम तथा इमर्जेंसी में ही करने को कहा है क्योंकि वह पढ़ाई तथा अन्य प्रशासनिक कामों में बाधा उत्पन्न करता है। लेकिन संकट के समय में मोबाइल द्वारा लड़कियां पुलिस या अन्य को कैसे मदद के लिए फोन करें, इस सन्दर्भ में पुलिस प्रशासन पर कॉलेज को दबाव डालना चाहिए था। कोई हेल्पलाइन नम्बर उपलब्ध हो और जब भी लड़कियां फोन करें तो उनकी मदद को सुनिश्चित किया जा सकता था। यदि उन्हें लड़कियों की सुरक्षा की ही चिन्ता थी तो लड़कियों को ऐसे प्रशिक्षण की व्यवस्था का इन्तजाम कर सकती थी जिससे वे आत्मविश्वास तथा मुकाबले के लिए तैयार

होतीं। ऐसे निर्देश जारी करके प्रशासन ने अपनी अज्ञानता तथा पितृसत्तात्मक सोच का परिचय दिया है कि यौन उत्पीड़न का कारण पहनावा है। उन्होंने उन असामाजिक तत्वों को भी इस फरमान से सन्देश दिया है कि गलती तो हमारी लड़कियों की है, तुम लोग तो ऐसा कर ही सकते हो। क्या इन पढ़े-लिखे लोगों को यह नहीं पता कि तंग और छोटे कपड़े तो क्या, यदि कोई अपने पागलपन या बददिमागी में ही सही, निर्वस्त्र हो तब भी उससे यौन दुर्व्यवहार नहीं किया जा सकता है। क्या पारम्पारिक पोशाक में छेड़खानी नहीं होने की गारंटी है? उन्हें नहीं पता कि दिल्ली की एक संस्था 'साक्षी' ने बलात्कार के दर्ज मुकदमों के चालीस साल के रेकार्ड को देख कर पाया कि इनमें सत्तर प्रतिशत पीड़ित महिलाएं पारम्पारिक पोशाक पहनी थीं। इन्हें यह भी जानकारी नहीं है कि हमारे देश के विभिन्न आदिवासी संस्कृति में कई जगहों पर बहुत कम कपड़ों का इस्तेमाल होता रहा है, फिर भी इस कारण आदिवासी महिलाएं यौन हिंसा का शिकार नहीं होती थीं। कपड़े ऐसे हों कि वैसे हों, इसमें राय तथा पसन्द जरूर हो सकती है। हो सकता है कि हममें से किसी को आजकल के कपड़े नापसन्द हो लेकिन इस कारण से कोई किसी के साथ छेड़छाड़ कर ले, यह निहायत ही पिछड़ी सोच तथा पुरुषवादी नजरिया है।

भारतीय संस्कृति में नैतिकता का सारा ठेका मानो महिलाओं के लिए है। उन्हें अपनी कथित इज्जत का बचाव स्वयं करना पड़ता है। हमारे समाज में कोठे भी मौजूद हैं जहां 'पतितायें' रहती हैं और वहां जाने वाले पुरुषों का कुछ भी नहीं बिगड़ता है। इसी तरह गुण्डे और शोहदे तथा साथ में कुछ 'शरीफ' लड़के भी लड़की को अपनी आक्रामकता तथा हवस के शिकार बना सकते हैं, उन्हें कभी-कभार पुलिस पकड़ कर कार्रवाई भी करती है लेकिन समाज के लोग तथा प्रबुद्धवर्ग अपने घर और कॉलेज तथा यूनिवर्सिटी से लड़कों के लिए फरमान नहीं जारी करेगा। कई दूसरे मामलों में आधुनिक विचार रखने वाले भी कहते मिल जाएंगे कि साहब लड़कियां भी तो छेड़खानी ऑफर करती हैं अपनी पोशाकों से।

यह सच है कि लड़कियां भी कई बार खुद को सेक्स आब्जेक्ट के रूप में पेश करती हैं और यह बिल्कुल अलग मुद्दा और समस्या है कि पूंजीवादी समाज कैसे ऐसी मानसिकता तैयार करता है, लेकिन यह वजह कतई नहीं हो सकती है जोर-जबरदस्ती करने के लिए। आखिर यह कैसे किसी पुरुष का हक हो सकता है कि वह उसका उपभोक्ता है वह भी बिना आज्ञा के।

ड्रेस कोड तय करने वाले ये तालिबान

समाज

सुभाषिनी अली सहगल

कानपुर और पेरिस हर तरह से एक दूसरे से बहुत दूर हैं। पिछले दिनों इन दोनों शहरों से ऐसी खबरें निकलीं, जो देखने में इस दूरी का सुबूत पेश करती थीं। लेकिन बाकी चीजों के मामले में पेरिस और कानपुर में कितना ही अंतर क्यों न हो, दोनों ही जगह पुरुष प्रधान सोच का बोलबाला है। मसलन, पेरिस में फ्रांसीसी राष्ट्रपति सरकोजी ने बीते दिनों बुर्के के इस्तेमाल पर पाबंदी लगाने की बात कही थी, क्योंकि यह औरतों की गुलामी की निशानी है। जबकि कानपुर में लड़कियों के जींस पहनने पर पाबंदी लगाने की कोशिश की गई।

दरअसल कानपुर में कुछ सप्ताह पहले लड़कियों के तीन डिग्री कॉलेजों के प्रधानाचार्यों ने एक बैठक करके छात्राओं के बारे में कुछ फरमान जारी किए थे। पहला फरमान यह था कि कोई लड़की जींस और टॉप पहनकर कॉलेज नहीं आएगी। दूसरा यह कि कोई भी लड़की कॉलेज परिसर में मोबाइल फोन लेकर नहीं आएगी। इनके पीछे लड़कियों की सुरक्षा का तर्क था। कहा गया कि कॉलजों के बाहर खड़े लड़के लड़कियों के साथ छेड़खानी करते हैं और उन पर अश्लील टिप्पणियां भी करते हैं। यह सब छात्राओं के जींस पहनने की वजह से होता है! मोबाइल फोन के बारे में कहा गया कि इसकी वजह से कॉलेजों का माहौल खराब हो रहा है। कुछ दिनों बाद कानपुर में राज्य भर के सरकारी वित्त पोषित डिग्री कॉलेजों के प्रधानाचार्यों की बैठक हुई। उन्होंने प्रदेश भर के डिग्री कॉलेजों में लड़कियों के जींस पहनने पर रोक लगाने का फैसला लिया।

छात्राओं ने इन फैसलों का विरोध तो किया, लेकिन दबी जुबान से। अलबत्ता अखिल भारतीय जनवादी महिला समिति की कानपुर इकाई ने इन फैसलों का पुरजोर विरोध किया। उसने मीडिया में अपना विरोध दर्ज कराया, साथ ही शहर के चौराहों पर धरना भी दिया। उसका कहना था कि लड़कियों को अपने मनपसंद कपड़े पहनने का पूरा अधिकार है। उनकी पसंद का उनके चरित्र या चाल-चलन से कोई मतलब नहीं है। अगर 18 साल की लड़की शादी करने का फैसला कर सकती है, वोट डाल सकती है, मोटर या स्कूटर चलाने लायक समझी जाती है, तो क्या वह अपने कपड़ों के बारे में फैसला नहीं ले सकती?

हमारे संगठन के विरोध का दूसरा पहलू यह था कि लड़कियों की सुरक्षा को उनके लिबास से जोड़ना बिलकुल अनुचित है। हमारे देश में

जब अट्ठारह साल की उम्र में लड़की मर्जी से शादी कर सकती है, वोट डाल सकती है, तो पसंद के कपड़े क्यों नहीं पहन सकती? किसी को तय करने का अधिकार नहीं कि वे क्या पहनें

बलात्कार की 30 फीसदी घटनाएं नाबालिग लड़कियों के साथ होती हैं। बलात्कार के शेष मामले ज्यादातर ग्रामीण और शहरी गरीब महिलाओं से जुड़े होते हैं। लड़कियां और महिलाएं कहीं भी सुरक्षित नहीं हैं। उनकी सुरक्षा सुनिश्चित करना सरकार, प्रशासन, पुलिस और समाज का काम है। कपड़ों को महिलाओं की असुरक्षा की वजह बताना उन्हीं के ऊपर उनकी सुरक्षा की जिम्मेदारी मढ़ देना है। ऐसी बात करने वाले केवल अपना उत्तरदायित्व निभाने से ही पीछे नहीं हट रहे, वे अपनी उस पुरुष प्रधान सोच का परिचय भी दे रहे हैं, जो समाज की हर बुराई के लिए महिलाओं को जिम्मेदार ठहराती है।

प्रधानाचार्यों के मोबाइल विरोध को भी समझने की जरूरत है। बेशक क्लास में मोबाइल बंद रखना अनिवार्य होना चाहिए। लेकिन इस पर पूरी पाबंदी लगा देना बेतुका है। घर में कोई बीमार पड़ जाए या छात्रा खुद बीमार हो जाए, घर में बैठी मां को पता न लगे कि लड़की तमाम आफतों को झेलती हुई कॉलेज पहुंची भी या नहीं, या घर लौटने में देर लग रही है, तो क्यों, इन तमाम जानकारियों के लिए मोबाइल अब एक अनिवार्यता है। ऐसे में, प्रधानाचार्यों को इससे परहेज क्यों है? शायद इसलिए कि वे मोबाइल को प्रेम से जोड़कर देख रहे हैं। मोबाइल होगा, तो लड़कियां प्रेम करेंगी, भागकर शादी भी कर लेंगी, इसलिए लड़कियों को नियंत्रण में रखने के लिए उनका मोबाइल उनसे छीन लेना जरूरी है। इस तरह की सोच पुरुष प्रधानता की एक और पहचान है, जो लड़कियों को बिरादरी की इज्जत का प्रतीक बनाकर उनकी आजादी को पूरी तरह से नियंत्रित करने की कोशिश करती है। बेहतर हो कि मां-बाप अपनी बेटियों का विश्वासपात्र बन उनके दिल की बातें जानें, समझें और उन्हें अच्छी सलाहें दें और उनकी खुशी को अपनी खुशी भी समझें। बहरहाल, हमारा विरोध व्यर्थ नहीं गया। उत्तर प्रदेश सरकार ने तत्काल घोषणा कर दी कि लड़कियों के पहनावे पर रोक लगाने की इजाजत किसी को नहीं दी जाएगी।

हमारे यहां कुछ लोग मानते हैं कि जींस लडकियों के बेलगाम होने की निशानी है। जबकि सरकोजी मानते हैं कि बुर्का औरतों की गुलामी की निशानी है। दोनों ही औरतों की पहचान उनके लिबास से तय करना चाहते हैं। यही नहीं, दोनों उनके पहनावे का फैसला उनकी इच्छाओं पर न छोड़कर खुद ही करना चाहते हैं। इसलिए इनमें से किसी का भी समर्थन नहीं किया जा सकता। न किसी को जबर्दस्ती जींस पहनाना चाहिए, न किसी को जींस पहनने से रोका जाना चाहिए। इसी तरह न किसी को जबर्दस्ती बुर्का पहनाना चाहिए, न किसी से बुर्का ओढ़ने का अधिकार छीनना चाहिए। पुरुष प्रधान सोच सिर्फ तालिबान में नहीं है, वह सुशिक्षित सरकोजी पर भी हावी है और हमारी बहुत-सी महिला प्रधानाचार्यों पर भी।

(लेखिका पूर्व सांसद हैं)

इक्कीसवीं सदी में ड्रेस कोड !

समाज

अनीता महाजन

पिछले दिनों उत्तर प्रदेश के कानपुर जिले के चार कॉलेजों में छात्राओं को जींस-टॉप पहनने पर पाबंदी लगाई गई। महिला शिक्षकों से भी कहा गया कि वे स्लीवलेस परिधान पहनकर न आएं। यह तर्क दिया गया कि इससे छेड़छाड़ पर अंकुश लगाया जा सकेगा! पिछले कितने ही वर्षों से न जाने कितनी बार यह तर्क देकर प्रशासन-व्यवस्था की नाकामी को ढकने की कोशिश की जाती है। और लचर व्यवस्था का खामियाजा लड़कियों को भुगतना पड़ता है। कानपुर कभी उत्तर प्रदेश के ही नहीं, देश के प्रमुख औद्योगिक नगरों में से था। लेकिन दुर्योग से यह शहर अब वैलेंटाइन-डे के विरोधियों और ड्रेस कोड के पक्षधर कापालिकों के कारण ही अधिक पहचाना जाने लगा है।

अगर घटनाओं के सिलसिले में देखें, तो देश के अलग-अलग हिस्सों में अनेक बार इस तरह के तालिबानी फरमान जारी हुए हैं। वर्ष 2005 में तमिलनाडु के अन्ना विश्वविद्यालय ने भी छात्राओं की पोशाक को लेकर ऐसा ही आदेश जारी किया गया था। तब विश्वविद्यालय प्रशासन ने राज्य भर के 200 से अधिक इंजीनियरिंग कॉलेजों में छात्राओं के लिए पोशाक के संदर्भ में विशेष निर्देश जारी करते हुए कहा था कि वे कॉलेज परिसर में जींस टॉप, स्लीवलेस या चुस्त परिधान पहनकर नहीं आ सकतीं। उस समय विश्वविद्यालय के इस फरमान का विरोध हुआ था। ऐसा नहीं है कि महिलाओं से खास किस्म की पोशाक धारण करने की अपेक्षा सिर्फ अपने देश में ही की जाती है। पिछले दिनों श्रीलंका में महिला सांसद टी काथिरमन को इसलिए संसद से बाहर निकाल दिया गया, क्योंकि वह सलवार कमीज पहनकर आई थीं, जो संसद के ड्रेस कोड के खिलाफ था।

जो लोग कहते हैं कि किन्हीं खास पोशाकों से अश्लीलता झलकती है, वे या तो कुतर्की हैं या खुद अश्लीलता के पक्षधर। वास्तव में अश्लीलता पोशाक विशेष में नहीं, बल्कि औरतों के प्रति रवैये में है। अगर आपके मन में स्त्रियों के प्रति अच्छी छवि है, तो वह चाहे किसी भी परिधान में हो, आपको अश्लील नहीं लगेगी। लेकिन अगर आपका नजरिया ही ठीक नहीं हो, तो औरत किसी भी वस्त्र में आपको अश्लील लगेगी। पुरुष साड़ी का गुणगान इसलिए नहीं करते कि इससे स्त्रियों की शालीन छवि उभरती है, बल्कि वे साड़ी का पक्ष इसलिए लेते हैं, क्योंकि यह नारी के शरीर की स्वच्छंद गति को रोककर रखने में समर्थ है। जो लोग औरतों के ड्रेस कोड के हामी हैं,

जब देश के सत्ता सदनों में महिलाओं को उनकी समुचित जगह देने की बहस छिड़ी हुई है, तब कानपुर के शिक्षण संस्थानों का रवैया उन्हें हतोत्साहित करनेवाला ही है

वे क्यों चाहेंगे कि औरतें पुरुषों के कंधे से कंधा मिलाकर चलें? उनका वश चले, तो वे औरतों को घर से निकलने न दें।

यह अचानक नहीं है कि किसी समय चीन में बंधे हुए पैर वाली औरतों की चाल को लावण्यपूर्ण कहा जाता था और उन अपंग से पैरों को ही विवाह के लिए जरूरी योग्यता बताया जाता था। दरअसल हर संस्कृति में औरतों की पोशाक और साज-सज्जा उन्हें परनिर्भर, असुरक्षित और हर वक्त चिंतित (पल्ला या दुप्पटा गिर रहा है, स्कर्ट ऊंचा हो रहा है) बनाए रखने के लिए रची गई हैं। इसलिए जब औरतें ऐसे सुविधाजनक वस्त्र पहनने लगती हैं, जो उन्हें नाजुक गुड़िया का रूप न देते हों, तो पुरुष समाज उससे भयभीत होकर धमकी देने लगता है।

यदि तालिबान और दूसरे आतंकवादी संगठन ड्रेस कोड की बात कहते हैं, तो उनकी अज्ञानता को देखते हुए यह बहुत आश्चर्यजनक नहीं लगता। ऐसे लोग पुरानी चीजों से चिपका रहना पसंद करते हैं। लेकिन हमारे यहां कॉलेजों में लड़कियों के लिए ड्रेस कोड की बात करने वाले तो लोग तो पढ़े-लिखे होते हैं। फिर वे तालिबान की तरह बात क्यों करते हैं? वे क्यों चाहते हैं कि शिक्षा के मंदिर में जाती लड़कियां एक खास किस्म के ही कपड़े पहनें? जाहिर है, उनकी शिक्षा भी उन्हें कुसंस्कारों की ओर ही धकेलती है। अगर उन्होंने वास्तव में ज्ञान प्राप्त किया होता, तो समझते कि लड़कियों के साथ छेड़छाड़ को ड्रेस कोड से नहीं, बल्कि समाज का रवैया बदलकर रोका जा सकता है। आज भी अश्लीलता के लिए लड़कियों को ही जिम्मेदार क्यों ठहराया जाता है? आज भी परिवार में लड़कियों के साथ दोयम दर्जे का व्यवहार क्यों क्यो किया जाता है? जब आज लड़कियां समाज के हर क्षेत्र में तरक्की की इबारतें लिख रही हैं, तब उन्हें ड्रेस कोड की जंजीरों में जकड़ना क्या फिर से उन्हें गुलामी के दौर में ले जाने की कुचेष्टा नहीं है?

विडंबना यह है कि जाने-अनजाने प्रबुद्ध लोग और विश्वविद्यालयों की समितियां भी कई बार ड्रेस कोड का पक्ष लेती हैं। मुंबई विश्वविद्यालय ऐसी इच्छा जाहिर कर ही चुका है। यह लड़कियों के प्रति दोयम रवैये का सुबूत उतना नहीं है, जितना कानून-व्यवस्था की बदतरी से उपजी हताशा है। कॉलेज और विश्वविद्यालय सोचते हैं कि इस बहाने अपने कैंपस में शांति बनी रहेगी। अगर प्रशासन-व्यवस्था चुस्त-दुरुस्त हो, छात्राओं के खिलाफ बदसुलूकी के हर मामलों पर कार्रवाई हो, तब कोई भी कॉलेज या विश्वविद्यालय अपने स्तर पर छात्राओं के लिए ड्रेस कोड लागू करने की बात नहीं कहेगा। लेकिन चाहे किसी भी वजह से ड्रेस कोड लागू करें, इससे छात्राओं के मन में समाज के प्रति क्षोभ और व्यवस्था के प्रति विद्रोह ही उपजेगा। जिस देश की लड़कियां जीवन के तमाम क्षेत्रों में पुरुषों के साथ-साथ हैं, वहां तो अश्लीलता पर अंकुश के बहाने ऐसे मध्ययुगीन फरमान तो जारी न कीजिए।

(लेखिका समाज सेविका हैं)

लापरवाही के स्कूल

समाज

मणिमाला

राजधानी के निजी स्कूलों की फीस में भारी बढ़ौतरी के खिलाफ बढ़ते असंतोष के बीच वसंत विहार इलाके में स्थित मॉडर्न स्कूल की छात्रा आकृति भाटिया की मौत अपने पीछे कई कड़वे सवाल छोड़ गई है। आकृति को अस्थमा की शिकायत पहले से थी। लेकिन जब उसे दौरा पड़ा तब वह अपने स्कूल में थी। आकृति की एक सहपाठी के मुताबिक कक्षा में पढ़ा रही शिक्षिका ने न केवल उसकी तकलीफ को नजरअंदाज किया, बल्कि उसे बाहर जाने की इजाजत भी नहीं दी। स्कूल में सिर्फ खानापूर्ति करने वाली चिकित्सा व्यवस्था के बीच अपनी तकलीफ से करीब सवा घंटे तक जूझने के बाद आकृति ने दम तोड़ दिया। यह उस स्तर के स्कूल की घटना है जिसमें प्रबंधन की ओर से बच्चे की जिंदगी बना देने के दावे किए जाते हैं और जहां दाखिले के लिए अभिभावकों को तमाम तरह की जद्दोजहद करनी पड़ती है। आकृति की मौत के मामले में स्कूल पर लापरवाही के आरोपों की जांच अभी बाकी है। यह असंभव नहीं कि आपातकालीन चिकित्सा व्यवस्था के बावजूद किसी रोगी की जान नहीं बचाई जा सके। यह स्थिति एक अस्पताल में भी पैदा हो सकती है। लेकिन यह कहना कि स्कूल का मतलब कोई अस्पताल नहीं है, अपनी जवाबदेही से भागने की ही कोशिश है। इससे यह भी पता चलता है कि महज अपना पल्ला झाड़ने के लिए स्कूल प्रबंधन संवेदनहीनता की किस हद तक जा सकता है और निजी शिक्षा व्यवस्था पर किस तरह व्यापार और मुनाफे की मानसिकता हावी हो चुकी है।

स्कूल की प्राचार्य का कहना है कि वहां का डॉक्टर दो महीने पहले सेवानिवृत्त हो चुका था। सवाल है कि जिस संस्थान में हजार-दो हजार या इससे ज्यादा बच्चे पढ़ने आते हों और रोज लगभग आठ घंटे गुजारते हों, वहां आपातकालीन चिकित्सा व्यवस्था के मामले में ऐसी कोताही कैसे बरती गई? स्कूल में मौजूद विद्यार्थियों में से किसी को भी कभी आपात चिकित्सा की जरूरत पड़ सकती है। फिर पिछले दो महीने से स्कूल में डॉक्टर क्यों नहीं था? वैकल्पिक इंतजामों का अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि अचानक जरूरत पड़ने पर किसी को अस्पताल पहुंचाने के लिए एंबुलेंस या दूसरे वाहन तक की व्यवस्था नहीं थी। स्कूल प्रबंधन की लापरवाही का अंदाजा इसी से हो जाता है कि उसे अपनी किसी छात्रा को दमे की बीमारी होने की जानकारी नहीं थी। ये वही स्कूल हैं जहां शिक्षा और आंतरिक व्यवस्था के ऊंचे मानकों का हवाला दिया जाता है और उससे आकर्षित होकर अपने बच्चों का दाखिला कराने वाले अभिभावकों से ज्यादा से ज्यादा फीस वसूली जाती है। निजी स्कूलों में चिकित्सा के नाम पर भी फीस ली जाती है। लेकिन इन स्कूलों में बच्चों की तबीयत बिगड़ने पर वहां कितनी देखभाल की जाती है, यह किसी से छिपा नहीं है। दूसरी ओर, सरकारी स्कूलों की दशा का अंदाजा वहां बुनियादी सुविधाओं की बदहाली को देख कर लगाया जा सकता है। हाल में दिल्ली के एक सरकारी स्कूल में एक शिक्षिका ने शन्नो नाम की बच्ची को धूप में 'मुर्गा' बनने की सजा दी और उसके बाद तबीयत बिगड़ने के कारण उस बच्ची की जान चली गई। अब मामले को रफा-दफा करने के लिए यह साबित करने की कोशिश की जा रही है कि बच्ची पहले से बीमार थी। ताज्जुब की बात है कि दिल्ली के शिक्षा विभाग ने अब तक ऐसी नीति नहीं बनाई है जो निजी स्कूलों को आपातकालीन चिकित्सा व्यवस्था के मामले में जवाबदेह बना सके।

नहीं, नहीं ये पापा नहीं पाप है...

साक्षी नामक एक संस्था ने 1997 में अपने एक सर्वेक्षण के हवाले से कहा था कि उस साल सिर्फ दिल्ली में 350 स्कूली बच्चियों को किसी न किसी तरह की यौन प्रताड़ना का शिकार होना पड़ा था। एक तिहाई बच्चियों का कहना था कि उन पर हमला करने वालों में कहीं पिता, कहीं दादा, कहीं चाचा, कहीं मामा जैसे रिश्तेदार या पड़ोसी थे

मुम्बई में एक बलात्कारी पिता की गिरफ्तारी का समाचार मीडिया में छाया हुआ है। वह आठ सालों से अपनी ही बेटी पर बलात्कार कर रहा था ताकि वह मालामाल हो सके। एक हिन्दू तांत्रिक ने उसे सलाह दी थी कि अगर वह अपनी ही बेटी पर बलात्कार करता है तो जल्दी ही अमीर हो जायेगा। उसकी पत्नी तथा तांत्रिक को भी गिरफ्तार किया गया है। तांत्रिक उसकी छोटी बेटी के साथ भी बलात्कार कर रहा था और उसकी पत्नी साथ दे रही थी। कारों के कलपुर्जों का यह व्यापारी 2000 में आर्थिक तंगी से गुजर रहा था और इससे निजात पाने के लिए तांत्रिक के पास गया था। तब वह लड़की महज 14 साल की थी जब पहली बार उस पर उसके ही पिता ने हमला बोला था। मामला सामने तब आया जब तांत्रिक ने व्यापारी की 'आर्थिक समृद्धि' के लिए उसकी छोटी बेटी से बलात्कार करना शुरू किया। पन्द्रह साल की इस लड़की ने अपनी दादी और मामा से यह बात बता दी।

ज्यादा वक्त नहीं गुजरा है जब अहमदाबाद में एक 23 साल की महिला ने अपने ससुर पर बलात्कार के आरोप लगाए थे। वह भी दो परिजनों की मौजूदगी में। उसने सास और देवर के सामने उस पर बलात्कार किया था। पीड़ित की मानें तो यह सब दहेज के लिए हुआ था। इमराना की कहानी जग जाहिर है जब उसके ससुर ने बलात्कार किया और फतवा इमराना के खिलाफ जारी हुआ था कि अब से उसका ससुर ही उसका पति होगा और पति बेटा।

कुछ साल पहले महरौली थाने में एक 13 साल की लड़की ने मामला दर्ज करवाया था कि, 'तारीख तो याद नहीं। बरसात हो रही थी। पापा जबरदस्ती मुझे दारू पिला रहे थे। उन्होंने अपने सारे कपड़े उतार दिए थे और मेरा कुर्ता खींच रहे थे। मैं चिल्लाई तो छोटी बहन पुलिस को बुला लाई।' रोहिणी थाने में नौ साल की एक बच्ची ने रिपोर्ट दर्ज करवाई थी, 'मैं बालकनी में अपने भाई के साथ लेटी थी। नींद खुली तो देखा कि पापा मेरे ऊपर लेटे हैं। उन्होंने कपड़े नहीं पहने थे। मेरे भी कपड़े उतार रहे थे।'

ऐसी कितनी घटनाओं का जिक्र किया जाए। भारत में हर 16 मिनट पर एक महिला बलात्कार की शिकार होती है। देश के विभिन्न अदालतों में 60,000 से ज्यादा मसले अनिर्णीत पड़े हुए हैं। बच्चियों के साथ बलात्कार की घटनाएं काफी तेजी के साथ बढ़ रहीं हैं। साक्षी नाम एक संस्था ने 1997 में अपने एक सर्वेक्षण के हवाले से कहा था कि उस साल सिर्फ दिल्ली में 350 स्कूली बच्चियों को किसी न किसी तरह की यौन प्रताड़ना का शिकार होना पड़ा था। एक तिहाई बच्चियों का कहना था कि उन पर हमला करने वालों में उन्हीं के घर वाले, उनके अपने थे- कहीं पिता, तो कहीं दादा, तो कहीं परिवार का ही कोई बहुत ही करीबी मित्र या फिर चाचा-मामा जैसे रिश्तेदार या फिर कोई अपना बन चुका पड़ोसी। बच्चियों को समझ में नहीं आता क्या कहें, किससे कहें, कैसे कहें। कह दिया तो क्या असर होगा? कौन समझेगा उन्हें? कौन साथ खड़ा होगा। सारी दुनिया की उल्टी-सीधी बातें और हरकतों से उपजे दुख को बांटने की जगह होते हैं मां-बाप। जब वही जीवन में जहर घोलने लगे तो खुलती जुबान भी बंद हो जाती है।

कई तरह के महिला आन्दोलनों, संगठनों, चर्चाओं और भागीदारी की वजह से औरतों ने अब बोलना शुरू किया है। गरीब मजबूर औरतें तो आज भी कहां मुंह खोल पाती हैं? अगर बोलती भी हैं तो सुनता कौन है? पर एक डर तो बना ही रहता है कि पता नहीं कौन भंवरी बाई और मथुरा निकल जाए जो जमीन-आसमान एक कर दे। बच्चों के साथ यह डर नहीं होता। अगर बच्चे दूसरों के होते हैं तो उनके मां-बाप का डर बना रहता है। पता नहीं मामला खुलने के बाद बात कहां तक जाए। अदालती फैसलों में चाहे जितने दिन लग जाएं समाज में बेइज्जती होती है। बच्चियों पर बलात्कार को कोई भी सही नहीं ठहरा सकता है। न ही यह कह सकता है कि वह झूठ बोल रही है न यह कि उसकी सहमति थी। उससे यह भी नहीं पूछा जा सकता है कि उसने विरोध क्यों नहीं किया। न ही उसके चरित्र पर सवाल दागे जा सकते हैं। यह ऐसा मसला है जहां खुले तौर पर पूरा समाज थू-थू करता है। मुम्बई के इस मामले में भी पता चलते ही लोगों ने थाने को घेर लिया था। समझ से परे यह बात जरूर है कि बलात्कारी पर टूट पड़ने वाला हमारा समाज बलात्कार की इस संस्कृति पर क्यों नहीं टूट कर पड़ता।

बच्चियों पर बलात्कार के मामले इसीलिए बढ़ रहे है क्योंकि वे बेजुबान हैं। जब उन पर अत्याचार हो रहा होता है तो उन्हें यही समझ में नहीं आता कि हो क्या रहा है। कितना कुछ सिखाया जाए इस अल्हड़ उमर में। कुछ ही साल पहले हमने जागोरी नाम की संस्था के साथ मिलकर एक पतली सी पुस्तिका निकाली थी-काश किसी ने बताया होता! इसमें यह बताने की कोशिश की गई थी जो कुछ भी उन्हें नागवार गुजरता है उसे अपने घर में जरूर बताएं। स्पर्श के फर्क को समझें। पर बच्चों को क्या-क्या बताया और समझाया जाए। यह कि अपने पिता, भाई, मामा-चाचा और दादा-नाना से सावधान रहो। समझो कि वे बलात्कारी भी हो सकते हैं क्योंकि तुम ही उन्हें सहजता से उपलब्ध हो। क्या गुजरेगी मासूम मन पर यह सोचकर। कैसे सामान्य रह पायेंगी वे अपने घर में अपने ही रिश्तों-नातों के बीच? कहां जायेंगी ये बच्चियां। सारी

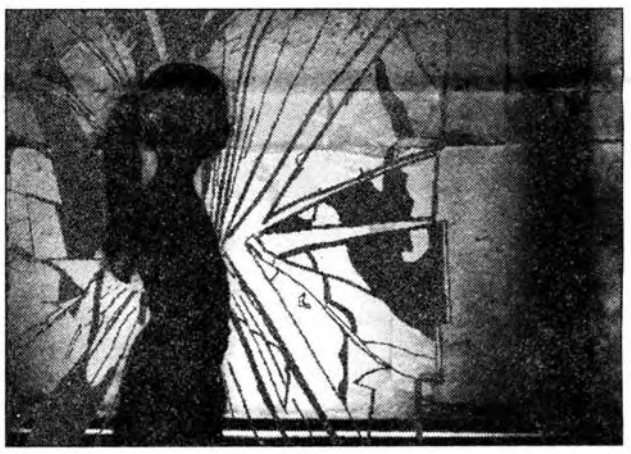

आकांक्षाओं-आशाओं का केंद्र बाप ही होता है। हर छोटी बड़ी चीज के लिए उन्हीं का तो आसरा होता है। अगर अपने आपको बचाने के लिए यहीं डर-डर कर जीना शुरू करे तो सिर्फ वह नहीं टूटेगी, समाज टूटेगा।

आमतौर पर मान लिया जाता है कि ऐसे हादसे सिर्फ कम पढ़े-लिखे या अनपढ़, गरीब-गुरबों के बीच में होता है तो यह गलत है। मध्यवर्गीय परिवारों और बड़े-बड़े अमीर घरानों में भी ऐसा होता है। मेरी एक परामर्शदाता मित्र के पास एक महिला अपनी बच्ची को लेकर आई थी। वह अमेरिका से अपने पति से किसी तरह से पिंड छुड़ाकर अपनी बेटी को लेकर आई थी। तब बिल्कुल बदहवास थी और पांच की साल की बच्ची गुमसुम। वह महिला बार बार यही कह रही थी कि इसके बाप ने इसे बर्बाद कर दिया है। अब यह कभी नॉर्मल नहीं हो पायेगी। वह बस बोले जा रही थी। और बच्ची? मां को टुकुर टुकुर देखे जा रही थी। अमेरिका में अच्छा खासा बिजनेस है उनका। दो बेटियां दो साल के अन्तराल में हुई थी। बड़ी को बाप अपने पास सुलाता था। बाप ही तो था। कोई क्यों रोकता-कहता कि अपनी पांच साल की बेटी को अपने पास क्यों सुलाते हो। एक दिन दोनों बेटियों को घर पर बाप के पास छोड़कर बाजार चली गई। आई तो जो कुछ देखा वह शब्दों में लिखा नहीं जाता।

महीनों बाद बच्ची ने तब हरकत की जब उसे एक ऐसी तस्वीर दिखाई गई जिसमें मां बाप और दो बच्चे थे। उसने अपनी पेंसिल से उस तस्वीर में मौजूद पुरुष जो पिता का प्रतीक था, बुरी तरह से काट दिया और चिल्लाती रही , 'नो पापा...नो पापा...' उसकी यह आवाज दीवारों से टकरा-टकरा कर गूंजती रही गई। आज फिर जब यह समाचार देखने-पढ़ने को मिला तो उस बच्ची की चीखें गूंजी- नो पापा...।

स्कूलों में शारीरिक सजा आखिर कब तक

देश की राजधानी दिल्ली के बवाना इलाके के नगर निगम विद्यालय की 11 वर्षीय छात्रा शन्नो की मौत की वजह शिक्षिका द्वारा दी गई सजा बताई जा रही है। यह आरोप शन्नो के मां-बाप ने मंजू नामक शिक्षिका पर लगाया है और शिक्षिका इस आरोप को बेबुनियाद बता रही है। इधर पोस्मार्टम की रपट यह इशारा करती है कि दौरे व सांस की समस्या से पीड़ित इस बच्ची की मौत की तात्कालिक वजह सजा ही है। इस सजा से समस्या इतनी बढ़ गई की उसकी नाक से खून रिसने लगा। तबीयत इस कदर बिगड़ गई कि दो दिन के बाद उसकी मौत हो गई। अर्थात अगर यह सजा नहीं मिलती तो वह इतनी जल्दी बेवक्त नहीं मरती।

मुद्दा

अलका आर्य

दरअसल यहां सवाल सिर्फ शन्नो का ही नहीं है बल्कि स्कूली शिक्षा में जड़ हो चुकी उस सजा प्रणाली का है। जो अदालतों द्वारा कानून बनाए जाने व मनोचिकित्सकों द्वारा बाल व्यक्तित्व के विकास के मार्ग में रुकावट करार दिये जाने के बावजूद अपने भयावह रूप में बच्चों को भयाक्रांत करने में सक्षम है। गौरतलब है कि 2000 में सर्वोच्च अदालत ने बच्चों को शारीरिक सजा दिये जाने पर प्रतिबंध लगा दिया था और राज्य सरकारों को दिशा-निर्देश दिए की वे अपने यहां इस तरह का बंदोबस्त करें कि बच्चे स्वतंत्र, निर्भीक, माहौल में शिक्षा हासिल कर सकें। साथ ही इस सीखने-सिखाने की प्रक्रिया में उनके गौरव को भी कोई ठेस ना पहुंचे। इसी साल दिल्ली उच्च अदालत ने भी दिल्ली स्कूल एजुकेशन रूल्स में शारीरिक सजा वाले प्रावधान को हटाने का आदेश दिया। क्योंकि अदालत का मानना है कि बच्चों को मिलने वाली शारीरिक सजा उनकी प्रतिष्ठा, गौरव के खिलाफ है और संयुक्त राष्ट्र बाल अधिकार कनवैंशन का भी उल्लघंन है, जिस पर भारत ने हस्ताक्षर भी किये हैं।

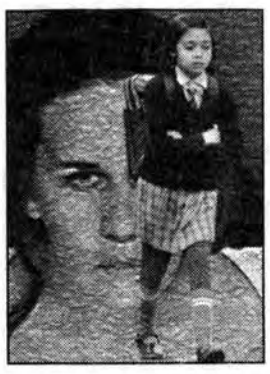

करीब डेढ साल पहले राष्ट्रीय बाल अधिकार संरक्षण आयोग की अध्यक्ष शांता सिन्हा ने देश के सभी राज्यों के शिक्षा सचिवों को एक चिट्ठी भेजी थी जिसमें उन्हें अपने राज्यों के स्कूलों में छात्रों को मिलने वाली शारीरिक सजा की रोकथाम के लिए कड़ाई बरतने को कहा गया था। इस बाल आयोग की अध्यक्ष शान्ता सिन्हा का मानना है कि बच्चे को चुटकी या हल्के से थप्पड़ भी नहीं मारा जाना चाहिए। छोटी सजा ही एक दिन बड़ी सजा का रूप ले लेती है। सजा देने की प्रथा ही गलत है। वैसे भी दुनिया भर में इस बात को व्यापक तौर पर स्वीकृति मिल गई है कि बच्चे को सोच विचार कर शारीरिक सजा देना या दूसरी तरह से नीचा दिखाना सीखने की प्रक्रिया व बच्चे के पूर्ण विकास के विरुद्ध है। मगर हकीकत यह है कि स्कूली बच्चों को शारीरिक सजा देने का सिलसिला थमता नजर नहीं आता। 90 फीसद ऐसे मामले दर्ज ही नहीं होते।

कई मर्तबा अभिभावकों को लगता है कि उनके बच्चों की ही गलती होगी। कई मर्तबा वे इस आशंका से चुप रहते हैं कि कहीं मामला उठाने पर अध्यापक परोक्ष रूप से बच्चे को अधिक नुकसान न पहुंचा दे। देश भर के सरकारी स्कूल बच्चों को शारीरिक सजा देने के मामले में काफी बदनाम है। यूं तो निजी स्कूलों को इस सदंर्भ में क्लीन चिट या बेदागी करार देना उनके सोशल स्टेटस में इजाफा करना और सरकारी स्कूलों के प्रति नाकारात्मक पूर्वाग्रही नजरिया होगा लेकिन यह हमारी स्कूली शिक्षा व्यवस्था का कड़वा सच तथा एक ऐसा पहलू है जिस में सरकारी स्कूलों की बदनामी उस गटर की सड़ांध की तरह दूर-दूर तक अपना असर दिखाती है जो ढका होने के बावजूद उसे रोक नहीं पाती। आखिर सरकारी स्कूलों के बच्चे ही अक्सर शिक्षक वर्ग के इस कोपभाजन का शिकार क्यों बनते हैं? इसी सवाल से जुड़ा यह सवाल भी है कि सरकारी स्कूल के शिक्षक ही शारीरिक सजा को असरदारी औजार के रूप में क्यों इस्तेमाल करते हैं? इसकी पड़ताल की जानी चाहिए।

शिक्षा ने भी एक वर्गीय चोला ओढ़ा हुआ है या यूं कहे कि निहित स्वार्थो के तहत इसे यह चोला पहनाया गया है। मध्यम वर्गीय, अमीर वर्ग के बच्चे महंगे निजी स्कूलों में शिक्षा हासिल करते हैं तो उधर गरीब, अति पिछड़े वर्ग के बच्चे सरकारी स्कूलों में जाते हैं। ऐसे छात्रों को स्कूल की वर्दी, किताबें मुफ्त दी जाती हैं। फीस भी नाम मात्र की ली जाती है और आठवीं कक्षा तक मिड डे मील भी दिया जाता है। लेकिन उनके इस सरकारी सामाजिक सशक्तीकरण का मतलब यह नहीं कि सरकारी स्कूल बच्चों की पिटाई करने वाले यातना शिविर बन जाए। शारीरिक सजा का मुद्दा चाहे व्यापक सत्र पर सरकारी स्कूलों से जुड़ा है लेकिन इसका अस्तित्व निजी स्कूलों में भी है। लिहाजा यह एक सामाजिक समस्या भी है जिसके लिए अभिभावक, बाल अधिकार कार्यकर्ताओं, कानून लागू करवाने वाली संस्थाओं को एक साथ आगे आने की पहल करनी होगी।

कहां हैं बाल अधिकार

हाल ही में कुछ ऐसी घटनाएं अखबारों की सुर्खियों में रहीं, जो हमारी शिक्षा व्यवस्था व समाज में बाल अधिकारों की संकटग्रस्त स्थिति और बच्चों से हो रहे अन्याय को उजागर करती हैं। संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा पारित संयुक्त राष्ट्र 'बाल अधिकार समझौते' (यूनाइटेड नेशन कॉन्वेंशन ऑन चाइल्ड राइट्स) के तहत हर बच्चे को जीने का जन्मजात अधिकार है। सभी देशों का यह कर्तव्य बनता है कि वह बच्चों के जीवित रहने के अधिकार व स्वस्थ विकास को सुनिश्चित करें। इसमें यह प्रावधान है कि सभी देशों की सरकारें बच्चों को माता-पिता या कानूनी अभिभावक या अन्य लोग जो उनकी देखरेख करते हैं, द्वारा सभी प्रकार की शारीरिक और मानसिक हिंसा, चोट, अपमान, उपेक्षा, दुर्व्यवहार और सभी तरह के शोषण, यौन शोषण से बचाएंगी।

मुद्दा

रेश्मा भारती

स्कूलों में शारीरिक दण्ड के विरुद्ध कई कानूनी प्रावधान भी हैं। जैसे दिल्ली हाई कोर्ट ने यह निर्देश दिया है कि स्कूलों में बच्चों को शारीरिक दण्ड नहीं दिया जाए। इन तमाम बाल अधिकार घोषणाओं और कानूनी प्रावधानों के बावजूद हमारी शिक्षा व्यवस्था में शारीरिक दण्ड, अपमान और मानसिक यातनाओं का सिलसिला जारी है और बच्चे इनके तत्काल व दीर्घकालीन दुष्परिणाम झेलने को मजबूर हैं। समूची शिक्षा प्रक्रिया में बच्चों पर डर को हावी रखने और बड़ों द्वारा आधिपत्य की प्रवृत्ति प्रचलित है। कुछ माता-पिता भी इन सजाओं व मार-पीट को जायज ठहराते हैं क्योंकि वे घरों में भी बच्चों को हिंसात्मक तरीकों से डरा कर या धमकाकर नियंत्रित रखते हैं अथवा वे इसे शिक्षा प्रक्रिया व बाल विकास का एक अनिवार्य हिस्सा समझते हैं! घरों व स्कूलों में बच्चे यौन शोषण या यौन संबंधी दुर्व्यवहार के शिकार भी होते हैं। टीचरों द्वारा छात्राओं के यौन शोषण की कुछ शर्मनाक खबरें भी सामने आयी हैं!

बाल अधिकार समझौते के तहत यह भी कहा गया है कि सभी देश बच्चों को अच्छे स्तर की स्वास्थ्य सुविधाएं उपलब्ध कराएं और बीमारी के उपचार का प्रावधान करें। बच्चों को शिक्षा का अधिकार भी दिया गया है। प्राथमिक शिक्षा के निशुल्क उपलब्ध कराए जाने का प्रावधान है। बाल अधिकार समझौता शिक्षा के समान अवसर की बात भी करता है। हमारी सरकार भी शिक्षा के मौलिक अधिकार और सबके लिए शिक्षा जैसे दावे करती रही है। पर सच्चाई तो यह है कि सभी बच्चों को गुणवत्तायुक्त शिक्षा समान रूप से उपलब्ध नहीं है। शिक्षा जगत में भारी विषमता विद्यमान है और आज शिक्षा पैसे से खरीदी जाने वाली चीज बनकर रह गई है। अनेक सरकारी स्कूलों में सुविधाओं की हालत खस्ता है, पढ़ाई का उदासीन माहौल है और बाल अधिकारों की धज्जियां सरेआम उड़ती हैं। कई निजी स्कूल फीस में बढ़ोतरी तो मनमाने ढंग से करते है, पर शिक्षा की गुणवत्ता की यहां भी कोई ठोस गारन्टी नहीं।

आए दिन हम देखते-सुनते हैं कि बच्चे पढ़ाई व परीक्षा के बोझ के कारण डिप्रेशन के शिकार हो गए, तीव्र प्रतिस्पर्धा ने बच्चों को तनावग्रस्त व हताश कर दिया या उनकी सेहत पर इसका बुरा असर पड़ा। शिक्षा व्यवस्था में असफल हो जाने या पिछड़ जाने वाले बच्चे भारी अवसाद से घिरकर कई दफा आत्महत्या जैसे कदम भी उठा लेते हैं! ऐसे कदम कई बार उन बच्चों द्वारा भी उठाए जाते हैं जो पढ़ाई में प्रायः तेज माने जाते हैं, पर बड़ों की निरंतर बढ़ती व अंतहीन अपेक्षाओं और अपनी महत्त्वकांक्षाओं पर खरा उतरने से कभी-कभी चूक जाते हैं। वे अपनी जीवनलीला समाप्त कर लेते हैं या सदा के लिए हीन भावना से ग्रस्त हो जाते हैं!

बड़ों की दुनिया और बच्चों के लिए बनायी गई व्यवस्थाएं बच्चों के प्रति काफी गैर लोकतांत्रिक रुख भी अपनाती हैं। उनके बारे में निर्णय लेते हुए बच्चों की खुद की राय की कद्र नहीं की जाती। बच्चों के खुलकर बोलने या अपने विचार प्रकट करने को महत्त्व प्रायः नहीं दिया जाता। जबकि 'बाल अधिकार समझौते' के तहत यह स्पष्ट कहा गया है कि बच्चों को प्रभावित करने वाले सारे मामलों में बच्चों को अपनी राय जाहिर करने का अधिकार है और बच्चों को अपने मन की बात कहने की आजादी होनी चाहिए। संयुक्त राष्ट्र बाल अधिकार समझौते में यह उल्लेख भी है कि शारीरिक व मानसिक रूप से विकलांग बच्चे एक पूर्ण और आत्मनिर्भर जीवन जी पाएं इसके लिए उन्हें विशेष देखभाल और सहयोग मिले। पर क्या विशेष जरूरतों वाले हर बच्चे को विकास का ऐसा माहौल मिल पाता है?

बच्चों को जोखिम भरे कामों और आर्थिक शोषण से सुरक्षा पाने का अधिकार दिया गया है। पर क्या सभी बच्चों के साथ इस संदर्भ में वास्तव में न्याय हो पाता है? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिन्हें उठाना हमारे घर, समाज व शिक्षा व्यवस्था को बच्चों के प्रति न्यायसंगत बनाने के लिए आवश्यक है।

राजनीति में महिलाओं की भागीदारी

मुद्दा

रोहित कुमार सिंह

देश में पहली बार महिला राष्ट्रपति और अब पहली बार लोकसभा स्पीकर, निश्चय ही शीर्ष पदों पर महिलाओं की यह भागीदारी हमारे लोकतंत्र के लिए गौरवपूर्ण और सुखद है, साथ ही राजनीति में महिलाओं की बढ़ती हिस्सेदारी का संकेत। इतना ही नहीं, पहली बार लोकसभा में महिला सांसदों की संख्या 50 के पार पहुंची है। 15वीं लोकसभा में अब महिला सांसदों की संख्या 59 पहुंची है। इससे पहले सबसे ज्यादा संख्या 13वीं लोकसभा में थी। तब उनकी संख्या 49 थी। इसके बावजूद आधी आबादी का यह प्रतिनिधित्व अभी भी पुरुषों की तुलना में कम है। अब भी राजनीतिक पार्टियां बेहतर प्रदर्शन के बावजूद उन्हें इतना मौका नहीं देती हैं जितने की वे हकदार हैं। राजनीति में महिलाओं की अब तक की सफलता पर दृष्टि डाली जाए तो उनका प्रदर्शन काबिले तारीफ है, फिर भी इनके लिए आगे बढ़ने के रास्ते काफी कठिन हैं।

राजनीति में महिलाओं की भूमिका की बात करें तो संसद में वर्ष 1956 में जहां कुल महिलाओं का प्रतिशत 2.96 था जो 2004 में बढ़कर मात्र 8.29 फीसद ही हो पाया। अब जाकर इनका प्रतिशत 10 के आंकड़े को छू पाया है। महिला आरक्षण बिल संसद में काफी समय से लंबित है। फिलहाल अब यूपीए सरकार ने इस महिला आरक्षण विधेयक को 100 दिनों के भीतर पेश करने की बात कर कुछ उम्मीद जगाई है। पहले भी इसके लिए बातें तो बहुत की जाती रही हैं पर जब भी उसे अमल में लाने का समय आता है तब सभी एक दूसरे के साथ हो जाते हैं। नतीजतन कोई परिणाम नहीं निकलता।

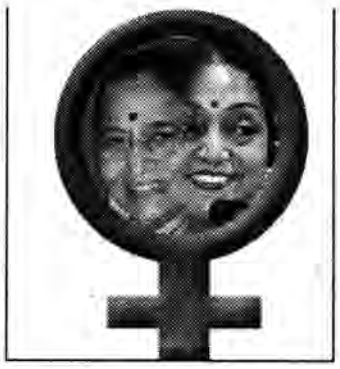

विश्व में कई देशों में राजनीति में महिलाओं की भागीदारी 50 फीसद से भी अधिक है। वर्ष 2004 में महिला आरक्षण के चलते रवांडा जैसे गरीब देश की राष्ट्रीय संसद में 49 महिलाओं का प्रतिनिधित्व था। इसी तरह महिलाओं को प्रतिनिधित्व देने के मामले में युगांडा शीर्ष पर है जहां 80 में से 45 सीटों पर महिलाओं का कब्जा है। वहां महिलाएं बहुमत में हैं। दरअसल, एक सभ्य राष्ट्र के विकास के लिए आवश्यक है कि उसके शासन संचालन में महिलाओं की हिस्सेदारी अवश्य हो ताकि विकास एकतरफा न होकर सार्वभौमिक हो। आमतौर पर हमारे देश में अधिकतर राजनीतिक परिवारों से जुड़ी महिलाएं ही राजनीति में सक्रिय रही हैं। ऐसे उदाहरण कम ही मिलते हैं जब कोई साधारण महिला चुनाव जीतकर संसद में पहुंची हो। ऐसे में जरूरी है कि देश के हर वर्ग की महिलाओं को समान प्रतिनिधित्व मिले। यदि संसद में महिलाओं की संख्या प्रभावपूर्ण होगी तो निश्चित ही राजनीति का स्वरूप कुछ और ही होगा। इस पुरुष प्रधान समाज में यह इतना आसान प्रतीत नहीं होता। राजनीतिक दलों के ढुलमुल रवैये के कारण ही राजनीति में महिलाओं की भागीदारी कम है। ज्यादातर लोग नहीं चाहते कि महिलाएं देश को चलाने में सक्रिय भागीदारी निभाएं। इसलिए महिला आरक्षण बिल को पारित करने में बिलम्ब होता रहा है। ये लोग अपनी नवयुवा पीढ़ी को राजनीति में लाना तो चाहते हैं लेकिन सिर्फ लड़कों को, लड़कियों को नहीं। आखिर ऐसा क्यों है?

महिलाएं आजादी के संघर्ष के समय से ही पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर काम कर रही हैं। आज के राजनीतिक गलियारे में इनकी संख्या बहुत कम या ना के बराबर है। लेकिन जो भी मौजूद हैं उनकी स्थिति बहुत मजबूत है। इसमें कोई दो राय नहीं कि महिलाएं शासन को अधिक कुशलता के साथ चला सकती हैं। असल में महिलाओं के बारे में फैसले आज भी पुरुष ही करते हैं। यह प्रवृत्ति प्रत्येक घर से लेकर सार्वजनिक जीवन तक में देखी जा सकती है। महिलाएं अभी इस अवसर से वंचित हैं। महिलाओं की वकालत करने वाली पार्टियां भी चुनाव आते ही सब कुछ भूल जाती है।

पश्चिम के विकसित देशों की राजनीति में महिलाओं की भागीदारी दर्शाती है कि उनकी प्रतिभा को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। वे बराबर व बेहतर परिणामों के लिए जानी जाती हैं जबकि भारत में महिलाओं की भूमिका को हमेशा अनदेखा किया जाता रहा है।

अब जबकि देश के सर्वोच्च पद पर एक महिला सुशोभित है और लोकसभा अध्यक्ष का दायित्व भी एक महिला को ही सौंपा गया है, ऐसे में महिलाओं को राजनीति में अधिकाधिक संख्या में भागीदार बनाने में कोई उदासीनता नहीं बरतनी चाहिए। वैसे भी, महिलाएं जहां भी नेतृत्व कर रही हैं, बहुत सक्षमता से कर रही हैं। इसलिए उन्हें और अवसर देना समय की मांग है। अब इतना तो तय है कि महिलाओं की भूमिका को नजरअंदाज करना न तो देश के हित में है और न ही समाज के हित में क्योंकि आधी आबादी को कम से कम आधी हिस्सेदारी तो मिलनी ही चाहिए।

नहीं खत्म हुई महिलाओं की उपेक्षा

समाज

अलका आर्य

इस चुनावी माहौल में मुल्क की आधी आबादी क्या सोचती है, उसके लिए कौन-से मुद्दे प्रमुख हैं, इस ओर ध्यान देने की फुर्सत न तो किसी राजनीतिक दल के पास है और न ही कोई इसका राजनीतिक महत्व समझता है। लेकिन राजनीतिक दलों के इस उपेक्षित नजरिये को नजरअंदाज करते हुए देश के 10 महिला संगठनों ने एक वूमेन चार्टर तैयार किया है। उनका मकसद इस चार्टर के जरिये राजनीतिक दलों का ध्यान आधी आबादी की ओर आकर्षित करना है। उनकी कोशिश है कि विभिन्न राजनीतिक दल अपने घोषणापत्रों में महिलाओं के सरोकार को महत्वपूर्ण स्थान दें, ताकि आनेवाली सरकार नीतियां बनाते वक्त उन्हें खास तवज्जो दें।

वूमेन चार्टर में कांग्रेस नेतृत्व वाली यूपीए सरकार पर वायदाखिलाफी का आरोप लगाते हुए कहा गया है कि न्यूनतम साझा कार्यक्रम में सभी क्षेत्रों में महिलाओं के बराबरी के अधिकारों के संरक्षण का वायदा किया गया था, जिसका पालन नहीं किया गया। संसद में 33 फीसदी आरक्षण के मुद्दे पर महिलाओं के साथ सबसे बड़ा विश्वासघात किया गया। सरकार ने महिलाओं के खिलाफ घरेलू हिंसा संरक्षण कानून तो पारित कर दिया, लेकिन इसे प्रभावशाली तरीके से लागू करवाने के लिए केंद्रीय बजट में खास प्रावधान की व्यवस्था नहीं की।

हाल यह है कि यहां हर आधे घंटे में एक महिला बलात्कार का शिकार होती है, तो रोजाना 22 महिलाएं दहेज के कारण मार दी जाती हैं। नव उदारवादी नीतियों और आर्थिक मंदी ने महिलाओं को बुरी तरह प्रभावित किया है, लेकिन उन्हें इस स्थिति से उबारने के लिए कोई खास पहल नहीं की गई है। निर्यात और निर्माण क्षेत्र में खास तौर पर रोजगार कम हो रहे हैं। जबकि इन दोनों ही क्षेत्रों में महिलाओं की तादाद उल्लेखनीय है। गैरकृषि क्षेत्र को मिलाकर आधे से ज्यादा महिलाएं स्वयं रोजगार के क्षेत्र में हैं। घरों से काम करने वाली हजारों महिला मजदूर आउटसोर्सिंग की सबसे निचली सीढ़ी पर है। इस सीढ़ी का उपरी सिरा प्रायः बहुराष्ट्रीय या बड़ी देसी कंपनियां होती है। इस समय चूंकि इन्हीं पर वित्तीय संकट छाया हुआ है, तो स्वाभाविक है कि उसका सीधा असर घर की महिलाओं/लड़कियों पर पड़ता है। वूमेन चार्टर में महिलाओं की कमजोर आर्थिक स्थिति का आकलन करने के बाद राजनीतिक दलों से अपील की गई है कि अपने राजनीतिक एजेंडे में सार्वजनिक वितरण प्रणाली के सार्वभौमिकरण और उसे मजबूत करने की

देश की कई राजनीतिक पार्टियों में महिलाएं केंद्रीय भूमिका में हैं, इसके बावजूद स्त्री हितों के प्रति उदासीनता के कारण कुछ महिला संगठनों को एक चार्टर के साथ आगे आना पड़ा है

दिशा में कदम उठाए। सार्वजनिक वितरण प्रणाली और गरीबी रेखा से नीचे (बीपीएल) के मुद्दे की अहमियत को महिलाओं के नजरिये से समझना होगा।

यह एक सचाई है कि घरेलू आमदनी में गिरावट का प्रतिकूल असर महिलाओं/लड़कियों के स्वास्थ्य पर पड़ता है। उनके कुपोषण की एक प्रमुख वजह यह भी है। बीते कई वर्षों से सरकार ने सार्वजनिक वितरण प्रणाली को कमजोर कर और गरीबी मापने के हास्यास्पद तरीके ईजाद कर गरीब व जरूरतमंद लोगों के खिलाफ एक साजिश रची है। लिहाजा वास्तविक गरीब जनता भी इससे लाभान्वित नहीं हो पा रही। हमें यह ध्यान में रखना होगा कि बीपीएल राशन कार्ड से केवल सस्ते राशन कार्ड का सवाल ही नहीं जुड़ा है, बल्कि कई सरकारी योजनाओं का लाभ भी तभी उठाया जा सकता है, जब यह कार्ड हो। कर्जमाफी की योजना महिला किसानों तक भी पहुंचनी चाहिए। इस योजना में सिर्फ सरकारी संस्थाओं से लिया गया कर्ज भी नहीं, बल्कि निजी साहूकारों से लिया गया कर्ज भी शामिल होना चाहिए। उन्हें सस्ती ब्याज दर पर कर्ज मिलना चाहिए। पैतृक कृषि संपत्ति में महिलाओं को कानूनी हक दिलाना चाहिए। असंगठित क्षेत्रों में काम करने वाली महिलाओं के कामकाज के घंटे, कार्यस्थल की स्थितियां, उन्हें मातृत्व अवकाश लाभ, बाल देखभाल व सामाजिक सुरक्षा आदि प्रदान करने के लिए एक समेकित विधेयक तैयार किया जाए। महिलाओं को कर्ज देते समय स्वयं सहायता समूहों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए और इस कर्ज की ब्याज दर चार फीसदी होनी चाहिए।

इस चार्टर में सभी सरकारी योजनाओं में शारीरिक रूप से विकलांग एक विशेष श्रेणी बनाने की बात कही गई है। इसके माध्यम से राजनेताओं को याद दिलाया गया है कि कल्याणकारी योजनाओं का फंड बढ़ाने की जरूरत इसलिए है, क्योंकि इसकी सबसे ज्यादा जरूरत महिलाओं और बच्चों को होती है। घरेलू हिंसा कानून को प्रभावशाली तरीके से लागू करवाने के लिए केंद्रीय बजट में बढ़ोतरी का मुद्दा भी इसमें उठाया गया है। इसमें हर मंत्रालय और विभाग को जेंडर बजटिंग नीति के तहत महिलाओं के लिए एक तिहाई संसाधन आबंटित करने के दिशा-निर्देश दिए गए हैं, लेकिन व्यावहारिक तौर पर इनका पालन सभी विभाग नहीं कर रहे। इसी तरह हिंसा ग्रस्त इलाकों में प्रभावित महिलाओं की सुरक्षा व पुनर्वास के आश्वासन भी मजाक बनकर रह गए हैं।

संसद में महिलाओं को 33 फीसदी आरक्षण चार्टर का एक अहम मुद्दा है। कार्यस्थलों पर यौन उत्पीड़न, ऑनर किलिंग और तेजाबी हमलों के खिलाफ अलग से कानून बनाने पर चार्टर में जोर दिया गया है। कई राजनीतिक दलों के शीर्ष पर महिलाओं को देखते हुए उम्मीद की जाती है कि पार्टियां इस चार्टर को अहमियत देंगी। अगर फिर भी उन्होंने इसे अनदेखा किया, तो इससे बड़ी विडंबना और कुछ नहीं होगी।

(लेखिका स्वतंत्र पत्रकार हैं)

स्त्रियां ही क्यों कोपभाजन बनती हैं ?

आधी दुनिया

अलका आर्य

भाजपा के स्टार प्रचारक और गुजरात के मुख्यमंत्री नरेंद्र मोदी आजकल बुढ़िया और गुड़िया के बीच फंस गए हैं। अपनी चुनावी रैलियों में उन्हें कांग्रेस कभी बुढ़िया नजर आती है, तो कभी गुड़िया। अब वह बुढ़िया कहें या गुड़िया, दोनों शब्दों के इस्तेमाल के पीछे उनका मकसद कांग्रेस पार्टी की उम्र गिनाने से ज्यादा कांग्रेस अध्यक्ष सोनिया गांधी को निशाना बनाना था। दरअसल, भाजपा के विकास पुरुष और तेजतर्रार नेता मोदी ने कांग्रेस को सवा सौ साल की बुढ़िया और भाजपा को नौजवान बताते हुए जिस पुरुषवादी राजनीतिक विमर्श को छेड़ा है, वह स्त्रियों के लिए अपमानजनक और आपत्तिजनक, दोनों है। ऐसा कहकर उन्होंने देश की समस्त बूढ़ी औरतों का अपमान किया है।

ऐसे लोगों के स्त्री विमर्श की सीमा औरत के प्रजनन कर्म तक ही सीमित है। इस आम चुनाव में विभिन्न दलों के राजनेता महिला नेताओं के प्रति जिस अवमाननापूर्ण शब्दावली का प्रयोग कर रहे हैं, वह अत्यंत चिंताजनक है। राष्ट्रीय जनता दल के अध्यक्ष और रेल मंत्री लालू प्रसाद यादव ने तो भाजपा नेता सुषमा स्वराज को 'पूतना' तक कह डाला। इस हमाम में सभी नंगे हैं।

दरअसल, चुनावों में स्त्रियों पर निजी कटाक्ष करने, नारी गरिमा पर चोट पहुंचाने वाली प्रवृत्ति की शुरुआत एक दशक पहले वर्ष 1999 में ही हो गई थी। दस साल पहले वर्ष 1999 के आम चुनाव के दौरान समाजवादी नेता जॉर्ज फर्नांडीस ने कर्नाटक के बेल्लारी में कांग्रेस अध्यक्ष सोनिया गांधी पर जो तल्ख टिप्पणी की थी, इसे यहां लिखना प्रासंगिक होगा। उन्होंने कहा था, 'सोनिया का इस देश के प्रति क्या योगदान है, सिवाय इसके कि उन्होंने देश को दो बच्चे पैदा करके दिए।' बदले में कांग्रेस पार्टी के एक नेता ने तत्कालीन समता पार्टी की नेता जया जेटली पर पलटवार करते हुए जवाब दिया, 'जया का तो ऐसा योगदान भी नहीं है।'

वर्ष 1999 से पहले राजनीतिक दल स्त्रियों की मर्यादा से जुड़े मुद्दों को चुनाव में उछालने से बचते थे या यों कहा जाए कि उन्होंने खुद को एक अलिखित चुनाव आचार संहिता से बांधे रखा था। यहां तक कि आपातकाल के बाद हुए चुनाव में भी विपक्षी नेताओं ने इंदिरा गांधी की निजी जिंदगी पर टिप्पणी तक नहीं की, उनकी तानाशाह कार्यशैली को ही निशाना बनाया गया था। खुद जॉर्ज फर्नांडीस तक ने उस समय इस संदर्भ में संयम बरता था।

दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र होने का गौरव धूल-धुसरित है। क्यों? बेलगाम पुरुष राजनेता महिला नेताओं के प्रति अपनी निर्लज्ज टिप्पणियों से पूरे राष्ट्र को शर्मसार कर रहे हैं

लेकिन इस संयम रेखा का जो उल्लंघन 1999 में शुरू हुआ, तो फिर वह कभी मंद नहीं पड़ा और आज तो उसका भयावह चेहरा हमारे सामने है।

ऐसा नहीं है कि यह प्रवृत्ति सिर्फ हिंदीभाषी इलाकों में ही है। दक्षिण भारत भी इस शर्मनाक होड़ में बहुत पीछे नहीं है। डीएमके नेता करुणानिधि की यह पंक्ति पर जरा गौर कीजिए, 'यदि अम्मा जयललिता अपनी राजनीतिक रैली में गाना गा सकती है तो अगली बार वह डांस करेगी।' साल 2004 के आम चुनाव में डीएमके ने अपनी पार्टी के अखबार में जयललिता के लिए तमिल शब्द 'माल्डी' का इस्तेमाल किया था, जिसका मतलब बेऔलाद औरत है। जाहिर है, स्त्री गरिमा पर चोट करने वाले इस अवमाननापूर्वक शब्द से आहत जयललिता की पार्टी ने करुणानिधि के परिवार की एक औरत के प्रति अपमानसूचक बातें कहीं। साफ है, पिछली बार के चुनावी मौसम में महिलाओं के लिए बहुत ही अश्लील, अमर्यादित शब्दावली का इस्तेमाल किया गया था।

बहरहाल, भाजपा के नरेंद्र मोदी पर फिर लौटते हैं। उन्होंने पिछले चुनाव में भी उन्होंने कांग्रेस अध्यक्ष सोनिया गांधी को 'जर्सी गाय' तथा राहुल व प्रियंका को उनके 'लबारे' कहा था। इसी पार्टी के एक अन्य नेता विनय कटियार ने तो नेहरू-गांधी परिवार की बहू की गोरी चमड़ी पर शर्मनाक टिप्पणी की थी। आज पांच साल के बाद फिर औरत की अवमानना देखने को मिल रही है।

महिलाओं के खिलाफ जारी जुबानी जंग के जिस इतिहास और वर्तमान की आज हम चर्चा कर रहे हैं, तो मुझे एक दशक पहले अखबारों में छपे दो विज्ञापन याद आते है। 'वे महिलाओं का सम्मान नहीं करते' और 'महिलाओं के प्रति कांग्रेस के कारनामे' नामक शीर्षक से ये दो विज्ञापन उन दिनों चुनाव प्रचार के दौरान अखबारों में छपे थे। ऐसे विज्ञापन शायद पहली मर्तबा अखबारों में पढ़ने को मिले। पहला विज्ञापन 12 महिला संगठनों और कमबैट कम्युनिलज्म की तरफ से जारी किया गया था, जिसमें भारतीय जनता पार्टी को महिला विरोधी करार दिया गया था। इस विज्ञापन के दो दिन बाद ही महिलाओं के प्रति कांग्रेस के कारनामे विज्ञापन को भारतीय जनता पार्टी ने जारी किया था।

इक्कीसवीं सदी में पहुंचे भारत के सामाजिक-राजनीतिक जीवन का यह सबसे स्याह पहलू है कि राजनीति में महिलाओं की निरंतर बढ़ रही भागीदारी के बावजूद उनके खिलाफ अपमानजनक टिप्पणियां बढ़ती ही जा रही हैं। पहले की अपेक्षा ज्यादा सुशिक्षित देश में पुरुष नेताओं के बीच महिला नेताओं को लांछित करने वाली शब्दावली के इस्तेमाल की होड़ तेज होती जा रही है। यह प्रवृत्ति भविष्य में किस हद तक नीचे उतरेगी, यह कोई नहीं जानता। यह दुनिया के सबसे बड़े लोकतांत्रिक देश की चुनावी प्रक्रिया पर सचमुच एक धब्बा है।

(लेखिका स्वतंत्र पत्रकार हैं)

राजनीति में हाशिए पर महिलाएं

मुद्दा

अंजलि सिन्हा

पड़ोस के मुल्क बांग्लादेश से खबर आयी है कि वहां की संसद में 45 महिलाएं निर्विरोध चुनकर भेजी गयी है। यह अलग बात है कि ये सभी महिलाएं आरक्षित सीटों से नामजद की गयी है जिनमें तीनों पार्टियों द्वारा भेजी गयी प्रतिनिधि है। यदि वे आम चुनावों के घमासान में ही चुनी गयी होती तो और अच्छी बात होती लेकिन ऐसे हालात नहीं होने पर आरक्षण द्वारा संसद में उनका प्रतिनिधित्व सुनिश्चित कराना निश्चित ही जिम्मेदारी वाली बात है। पड़ोसियों की तुलना में हमारा लोकतंत्र ज्यादा मजबूत और परिपक्व माना जाता है। फिर भी ऐसा क्या वजह है कि महिलाओं की राजनीति में चुने जाने की स्थिति दस प्रतिशत के नीचे ही रही है? ऐसी स्थिति के बावजूद संसद में आरक्षण का मामला टलता ही चला गया है। आज तक किसी भी पार्टी ने इसे आन-बान का मुद्दा नहीं बनाया है। महिलाओं के पक्ष में योजनाएं और नीतियां बनाने की बात तो सभी करते है और बनाते भी हैं लेकिन वे खुद योजना और नीति बनाने वालों में शामिल हो जाएं, यह मंजूर नहीं है।

आर्थिक रूप से सशक्त, राजनीतिक तौर पर चेतनशील और विकसित श्रेणी में आने वाले देश भी महिलाओं को राजनीतिक रूप से भागीदार बनने में निहायत पिछड़े साबित हुए है। एक सभ्य, सुसंस्कृत राष्ट्र की श्रेणी में आने के लिये जरूरी होता है कि महिलाओं की भागीदारी बढ़ाने के लिए राजनीतिक इच्छाशक्ति हो। एक अन्तरराष्ट्रीय सेमिनार में जर्मनी के एक प्रतिनिधि ने बताया कि जर्मनी जैसे विकसित देश में अब भी महिलाओं को बराबर काम का बराबर दाम नहीं मिलता है और राजनीतिक भागीदारी काफी निचले स्तर पर है। दूसरी तरफ रवाण्डा अति पिछड़ा मुल्क है जिसने 1997 में जबर्दस्त आपसी नरसंहार झेला है। तुत्सी एवं हुतू समुदायों के बीच चले खूनी संघर्ष में लाखों लोग मारे गये हैं, जिसके लिये रवाण्डा दुनियाभर में खबरों की सुर्खियों में बना रहा है, उसने भी महिलाओं की बराबरी तथा अवसर उपलब्ध कराने में राजनीतिक इच्छाशक्ति का परिचय दिया है। वहां महिलाओं का संसद में प्रतिनिधित्व 58 प्रतिशत है और यह संविधान में मिले आरक्षण से सम्भव हुआ है। रवाण्डा दुनिया का एकमात्र ऐसा देश है जहां की संसद में महिलाएं बहुमत में है। पश्चिम के अन्य विकसित देशों की

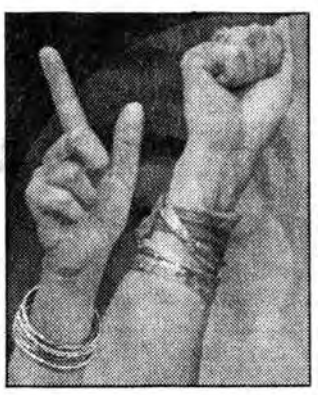

राजनीति मे महिलाओं की भागीदारी की कमजोर स्थिति इस बात का परिचायक है कि लोकतंत्र की मजबूती का दम्भ भरने वाले देश महिलाओं को बराबरी का अधिकार दिलाने के मामले में अभी भी काफी पीछे हैं।

यूएनडीपी (यूनाइटेड नेशन्स डेवलपमेण्ट प्रोग्राम) के द्वारा गतवर्ष दिसम्बर में मानवविकास की रिपोर्ट पेश की गयी थी जो 1975 से 2005 के बीच की महिलाओं की स्थिति पर प्रकाश डालती है। रिपोर्ट बताती है कि महिलाएं इतनी योजनाओं और नीतियों को लागू करने के दावों के बावजूद गरीब, बेरोजगार और हाशिये पर है। महिलाओं की स्थिति पर एक रिपोर्ट 1975 में भारत सरकार द्वारा गठित कमिटी ने पेश की थी जो विस्तृत और गहन विश्लेषणवाली रिपोर्ट मानी गयी थी और इसे ही आधार मान कर सरकार ने महिलाओं के उत्थान के लिये नीतियां तैयार की थी। लेकिन तीन दशक बाद यूएनडीपी की जो नयी रिपोर्ट आयी है वह हालात में बेहतरी का संकेत नहीं दे रही है। विश्व में महिलाओं की स्थिति में सुधार के लिये सिर्फ नीतियां तथा कानूनों का बनना काफी नहीं है बल्कि सार्वजनिक दायरों में उनकी भागीदारी सुनिश्चित करनी होगी तथा इसमें राजनीतिक भागीदारी भी जरूरी है। हमारे जैसे पुरुषप्रधान देश में बिना विशेष प्रावधान तथा आरक्षण के यह सम्भव नहीं है।

आज भी हमारी लोकसभा की सीटों में महिलाओं का आंकड़ा 50 तक भी नहीं पहुंच पाया है। आज तक की 14 लोकसभाओं में से छठी लोकसभा में सबसे कम 19 सांसदों की संख्या थी। 13 वीं लोकसभा में इनकी संख्या 49 रही है। वर्तमान में इनकी संख्या 45 है। पार्टियों को जीतनेवाले उम्मीदवार चाहिये और जीतने के लिये पैसा तथा बाहुबलियों का साथ जो कि महिलाओं के पास नहीं है। समाज में अपनी राजनीतिक पहचान बनाने में लिये सार्वजनिक दायरे में जितनी अधिक उपस्थिति रहने कि जरूरत होती है उसके लिये न तो परिवार और न ही समाज वह समय और अवसर देता है।

आम तौर पर जिन महिलाओं को राजनीति में आने का मौका मिला तथा टिकट हासिल हुआ वे राजनीतिक परिवारों की महिलाएं रही हैं जिन्होंने पितृसत्तात्मक ढांचे को चुनौती नहीं दी है। आम महिलाओं की भागीदारी यदि बड़े पैमाने पर बन पायी होती तो संसद के पुरुषवादी प्रकृति में बदलाव सम्भव हो पाता। आम महिलाएं बिना विशेष प्रयास और अवसर के कभी भी वहां तक नहीं पहुंच सकती है क्योंकि पूरे समाज में औरतें गैरबराबरी की शिकार हैं तो वहां कैसे बराबरी बना लेगी।

घटते जल संसाधनों से गहराता संकट

विवेचन

सुभाष गाताडे

नई सरकार के गठन को लेकर राजनीतिक गहमागहमी के बीच पूरे मुल्क में पानी की कमी को लेकर मचे त्राहिमाम की तरफ बहुत कम लोगों का ध्यान गया है। कई दिनों तक पानी न आने, गन्दा पानी आने या पानी के टैंकरों के न पहुंचने-जैसे मसलों को लेकर लोग आन्दोलित हो रहे हैं। दिल्ली, हरियाणा, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र समेत विभिन्न सूबों से ऐसी खबरें पहुंच रही हैं कि पानी के संकट को लेकर स्वतःस्फूर्त किस्म के राज्यविरोधी आन्दोलन खड़े हो रहे हैं या आपसी झगड़े एवं विवाद भी अब सुर्खियां बन रहे हैं। मालूम हो कि पिछले दिनों दिल्ली के ही गाजीपुर इलाके से नागरिकों द्वारा किया गया उग्र प्रदर्शन भी सुर्खियां बना था।

उदाहरण के लिए जानकारों के मुताबिक, कम बरसात तथा अन्य दिक्कतों के चलते मध्यप्रदेश के पचास में से 34 जिले जल संकट की चपेट में हैं। लोगों ने इसका फौरी समाधान यही ढूंढ निकाला है कि पानी की पाइपलाइन में जगह-जगह छेद करके पानी ले लेना। पानी की पाइपलाइनों में हर कुछ मीटर पर लोगों द्वारा किए ऐसे सुराख देखे जा सकते हैं, लेकिन इससे नए झगड़े भी खड़े हो रहे हैं, क्योंकि इसके चलते आगे के इलाकों में पानी नहीं पहुंचता है। राज्य की राजधानी में कई स्थानों पर झगड़े हुए हैं। बीते सप्ताह ऐसे ही झगड़ों में आठ लोगों के घायल होने का समाचार प्रकाशित हुआ था। पानी की कमी को लेकर चले आन्दोलन में या उससे उपजे झगड़ों में अकेले मध्यप्रदेश से पांच लोगों के मारे जाने की खबर है। अकेले भोपाल ही नहीं, उज्जैन और इन्दौर से भी ऐसी ही मौतों के समाचार मिले हैं।

भोपाल के शाहजहानाबाद इलाके के सात साल का ब्रजेश इस बात का गवाह है कि हंसता-खेलता उसका परिवार, जहां सबसे छोटा होने के नाते वह सबका दुलारा था, किस तरह अचानक उजड़ गया। ब्रजेश जब बड़ा होगा तो वह जान जाएगा कि इसके पीछे पानी को लेकर उठा विवाद था जिसने उसके पिता जीवन, उसकी मां और भाई को लील लिया, जब 13 मई को पड़ोसियों द्वारा किए हमले में तीनों मारे गए, जब वह गली में अपने दोस्तों के साथ खेल रहा था।

पानी के इस संकट का एक दूसरा पहलू विदर्भ के आत्महत्या से पीड़ित जिलों में सामने आ रहा है जहां लगातार दोहन से जलस्तर काफी नीचे चला गया है। कई इलाकों में न यह पीने लायक रहा है और न ही सिंचाई योग्य। विदर्भ के इन जिलों के पानी में नाइट्रेट के साथ ही फ्लोराइड, कैल्शियम, मैग्नीशियम जैसे घातक रसायनों की अधिकता पाई गई है। जानकार बताते हैं कि पानी में नाइट्रेट की मात्रा अधिक हो जाए तो यह शरीर में आक्सीजन ग्रहण करने की क्षमता को प्रभावित करता है जिससे सांस से जुड़ी बीमारियां पैदा होती हैं तथा पानी में फ्लोराइड बढ़ना भी शरीर के लिए घातक साबित होता है।

भले ही यह सच्चाई है कि पृथ्वी के दो तिहाई से अधिक हिस्से पर पानी है, मगर इसका केवल ढाई फीसद ही पीने लायक है और ढाई फीसद का 75 फीसद ग्लेशियरों में बर्फ में ढका है। पानी के इस अत्यधिक दोहन की कड़वी वास्तविकता जानना हो तो असम के चेरापूंजी जा सकते हैं जो कभी विश्व में सबसे ज्यादा बारिश के लिए जाना जाता है लेकिन अब औसत बारिश के लिए भी तरसता दिखता है।

अगर मध्य प्रदेश की चर्चा पर लौटें तो देखा जा सकता है कि राज्य सरकार द्वारा पानी के प्रबंधन में बरती जानेवाली अनियमितताएं इसके लिए प्रमुख तौर पर जिम्मेदार हैं। मसलन, जबलपुर शहर में सीवरलाइन बिछाने के नाम पर विगत एक माह से आधे शहर में पानी की त्राहि-त्राहि मची है और नगर प्रशासन द्वारा इसको लेकर किए वैकल्पिक इंतजाम भी औपचारिकता बन कर रह गए हैं। हालांकि इस बात को नहीं भूलना चाहिए कि पानी की कमी से उपजा यह संकट अकेले मध्यप्रदेश में ही नहीं दिख रहा है। देश के अलग अलग हिस्सों से इसी किस्म के समाचार आते रहते हैं।

वैसे संयुक्त राष्ट्र की चौबीस एजेंसियों द्वारा संग्रहीत आंकड़ों के आधार पर तैयार रिपोर्ट को देखें तो पानी के घटते स्रोतों तथा प्रदूषण, आबोहवा में बदलाव और तेजी से बढ़ती आबादी के चलते समूची दुनिया का भविष्य अंधकारमय दिख रहा है। मार्च महीने में टर्की की राजधानी के इस्तांबुल में हुए अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन में दुनिया के पीने योग्य पानी के बारे में अब तक पेश समग्र आकलन में यही तस्वीर पेश की गई थी। रिपोर्ट के मुताबिक, आज की तारीख में जल प्रबंधन संकटों के चलते दुनिया के अधिकतर हिस्सों में संकट पैदा होता दिख रहा है। नवम्बर 2006 की एक तारीख का उस रिपोर्ट में विशेष उल्लेख है जब 14 अलग देशों से- जिनमें कनाडा, संयुक्त राज्य अमेरिका या आस्ट्रेलिया के कुछ हिस्से भी शामिल थे- पानी की कमी से जुड़े समाचार प्रकाशित हुए थे।

एक तरफ जहां पानी के स्रोतों पर खतरा उत्पन्न होता दिख रहा है, वहीं बढ़ते औद्योगिकीकरण, लगातार बढ़ता जीवन शैली का स्तर और बदलते आहार से भी पानी की मांग बढ़ती दिखती है। यह सिलसिला इसी तरह चलता रहा तो रिपोर्ट के मुताबिक आनेवाले बीस सालों के अंदर अर्थात 2030 तक

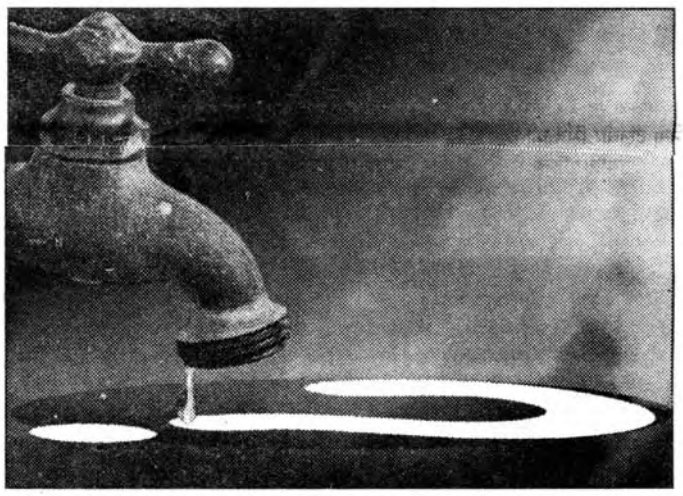

दुनिया के लगभग आधे हिस्से की आबादी गम्भीर जल संकट से गुजरती दिखाई देगी। भोपाल तथा मध्य प्रदेश के विभिन्न शहरों में पानी को लेकर आपसी विवादों या झगड़ों की जो शक्ल उभरती दिखती है, उसी चित्र को हम पूरी दुनिया के स्तर पर भी देख सकते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ का आकलन है कि पानी की यह कमी विभिन्न देशों या समुदायों के अन्दर नए विवादों का सबब बनेंगी और जिसके लिए नई रक्षा रणनीतियां बनाने की आवश्यकता होगी। इस्राइल-फिलिस्तीन, श्रीलंका, हैती, कोलम्बिया व बांग्लादेश-जैसे कई मुल्क जो पहले से ही विभिन्न आन्तरिक कारणों से अस्थिरता के दौर से गुजर रहे हैं, वहां पानी से पैदा ऐसे विवाद अधिक जटिलता भी पैदा करेंगे।

> पानी की कमी का असर आर्थिक विकास पर भी पड़ता दिख रहा है। संयुक्त राष्ट्र के मुताबिक दुनियाभर में शहरीकरण की प्रक्रिया में जो तेजी आयी है और जिस तरह आबादी में बढ़ोतरी दिखती है वह पानी की कमी को और प्रभावित करेगी। स्थूल अनुमान के हिसाब से देखें तो हर साल दुनिया की आबादी आठ करोड़ बढ़ती है जिसका बहुलांश असर शहरों में ही दिखता है

पानी की कमी का असर आर्थिक विकास पर भी पड़ता दिख रहा है। संयुक्त राष्ट्र के मुताबिक, दुनियाभर में शहरीकरण की प्रक्रिया में जो तेजी आई है और जिस तरह आबादी में बढ़ोतरी दिखती है वह पानी की कमी को और प्रभावित करेगी। स्थूल अनुमान के हिसाब से देखें तो हर साल दुनिया की आबादी आठ करोड़ से बढ़ती है जिसका बहुलांश शहरों में ही दिखता है। इसका अर्थ यही होगा कि आनेवाले समय में शहरों में ऐसे लोगों की तादाद बढ़ेगी जिन्हें पहले से कम हो रहे जल संसाधनों पर गुजारा करना पड़ेगा।

कृषि का मौजूदा स्वरूप भी पानी के संकट में बढ़ोतरी करेगा। मोटेतौर पर आकलन यही है कि लोगों द्वारा इस्तेमाल किए जानेवाले ताजे पानी का 70 फीसदी हिस्सा फसलों को उगाने और अपने जानवरों के रखरखाव पर खर्च होता है। ग्लोबल वार्मिंग के चलते आनेवाले 30-40 सालों में जितने बड़े पैमाने पर आबादी का विस्थापन होगा ऐसे 'शरणार्थियों' के पुनर्वास के लिए भी नए पानी और सैनिटेशन का इन्तजाम करना पड़ेगा।

पानी का हक

यह सिलसिला-सा बन गया है कि हर साल गर्मी का मौसम आते ही पेयजल का संकट गहराता है और हरियाणा सरकार के साथ दिल्ली जल बोर्ड की तकरार शुरू हो जाती है। जल बोर्ड का यह आरोप बहुत पुराना है कि भाखड़ा-ब्यास प्रबंधन बोर्ड उसकी जरूरत भर का पानी नहीं देता, जिससे उसे परेशानियों का सामना करना पड़ता है। इस विवाद का निपटारा करते हुए नौ साल पहले सर्वोच्च न्यायालय ने आदेश दिया था कि भाखड़ा-ब्यास प्रबंधन बोर्ड दिल्ली जल बोर्ड को सवा सौ क्यूसेक पानी देगा। लेकिन वह किसी न किसी बहाने इसमें कटौती करता रहा है। फिलहाल निर्धारित मात्रा के आधे से भी कम पानी की आपूर्ति हो पा रही है। पहले उसका तर्क था कि जिस नहर के जरिए यह पानी भेजा जाना है वह इतनी मात्रा वहन नहीं कर सकती। लेकिन दो साल पहले केंद्रीय जल आयोग ने जांच के बाद उसकी दलील को खारिज कर दिया तो वह कुछ समय तक पूरा पानी छोड़ता रहा। फिर दलील दी कि पंजाब से पर्याप्त पानी न मिल पाने के कारण दिल्ली का हिस्सा दे पाना संभव नहीं है। इस पर सर्वोच्च न्यायालय ने फटकार लगाते हुए उसे हीला-हवाली से बाज आने की हिदायत और पूरा पानी छोड़ने का आदेश दिया है। अब जल बोर्ड आश्वस्त है कि वह राजधानी के जल संकट से पार पा लेगा। मगर इसे स्थायी समाधान मानना जल्दबाजी होगी। दूसरे राज्यों को पानी देने के मामले में हरियाणा पंजाब पर निर्भर है। अगर वह नदी जल बंटवारे को लेकर हुए समझौते के अनुरूप पानी छोड़ने से मना कर देता है तो हरियाणा की मुश्किलें बढ़ जाती हैं।

पानी का विवाद इसलिए गहराता है कि कुछ राज्य सरकारें इस पर अपना एकाधिकार समझती हैं। वे भूल जाती हैं कि पानी का उत्पादन नहीं होता। यह प्राकृतिक संपदा है और इस पर सभी का बराबर हक है। करीब पांच साल पहले पंजाब की अमरिंदर सिंह सरकार ने विशेष सत्र बुला कर नदियों के जल बंटवारे से संबंधित सभी समझौतों को रद्द करने वाला एक विधेयक आम राय से पारित किया था। इससे हरियाणा, राजस्थान और दिल्ली के साथ टकराव की स्थिति पैदा हो गई थी। इसके कुछ महीने बाद ही श्रीगंगानगर के घड़साना में सिंचाई के लिए पर्याप्त पानी की मांग को लेकर किसानों ने आंदोलन किया था और पुलिस की गोली से चार लोग मारे गए थे। पंजाब को लगता है कि अगर नदी जल समझौते के अनुसार वह दूसरे राज्यों को पानी मुहैया कराता रहा तो उसके किसानों और शहरों की जरूरत नहीं पूरी हो पाएगी। उसका तर्क रहा है कि सतलज, रावी और ब्यास नदियां चूंकि उसके यहां बहती हैं, इसलिए इनके पानी पर किसी और राज्य का हक नहीं होना चाहिए। सतलज-यमुना नहर परियोजना उसकी इसी अड़ंगेबाजी के चलते वर्षों से अधर में झूल रही है। हरियाणा और राजस्थान को पानी देने का समझौता केंद्र की मध्यस्थता में हुआ था। पंजाब सरकार इन दोनों राज्यों की सहमति के बगैर न इसे तोड़ सकती है न उनके हिस्से का पानी देने में किसी तरह की कोताही बरत सकती है। अगर हरियाणा को पंजाब से पानी कम मिल रहा था तो उसने दिल्ली का पानी रोकने के बजाय केंद्रीय जल आयोग से शिकायत क्यों नहीं की! दिल्ली की बढ़ती आबादी के मद्देनजर पेयजल की जरूरत लगातार बढ़ती गई है। ऐसे में अगर पंजाब या हरियाणा सिर्फ अपने हितों के बारे में सोचते या अपनी विशेष भौगोलिक स्थिति का नाजायज फायदा उठाने की कोशिश करते हैं तो समस्या दिन पर दिन बढ़ती जाएगी। इसलिए केंद्रीय जल आयोग को ऐसे उपायों पर विचार करने की जरूरत है, जिनसे राज्यों की जल आपूर्ति संबंधी ऐसी मनमानियों पर लगाम लगाई जा सके।

जनसत्ता

राष्ट्रीय संस्करण, नई दिल्ली, गुरुवार 30 अप्रैल 2009
विक्रम संवत 2066, वैशाख शुक्ल पक्ष, षष्ठी

पानी की फिक्र

पानी के संकट से निपटने के लिए समयबद्ध कार्यक्रम बनाने की सुप्रीम कोर्ट की पहल स्वागत योग्य है। अदालत ने कड़े शब्दों में कहा है कि जो सरकार लोगों को पानी न मुहैया करा सके, उसे शासन करने का कोई अधिकार नहीं है। सरकार को दो महीने के भीतर एक उच्चस्तरीय समिति बनाने की हिदायत दी गई है। यह समिति देश में पानी की कमी दूर करने के लिए युद्ध स्तर पर अनुसंधान कराएगी। कोर्ट के सामने जो याचिका सुनवाई के लिए आई थी, वह देश में तेजी से लुप्त होती दलदली जमीन को बचाने के मकसद से दायर की गई थी। पर अदालत ने याचिका के दायरे को बड़ा करते हुए इसे देश के विभिन्न हिस्सों में गहराते पानी के संकट से जोड़ दिया। प्रस्तावित समिति जरूरत पड़ने पर विदेशी वैज्ञानिकों का सहयोग ले सकेगी। वैसे अनुसंधान जल संकट से जुड़े हर क्षेत्र में किया जाएगा, लेकिन मुख्य जोर खारे पानी को पीने लायक बनाने और बरसाती पानी के संग्रहण और प्रबंधन के सस्ते और आसान तरीकों को ढूंढ़ने पर होगा। सरकार से कहा गया है कि समिति अदालत को ग्यारह अगस्त तक अपनी पहली रिपोर्ट सौंप दे।

सभी सभ्यताओं में पृथ्वी, हवा, आग और पानी को सृष्टि का मूल आधार माना गया है। पानी हर किसी की जरूरत है, इसलिए निजीकरण की हवा चलने के पहले, हाल तक समाज के लिए यह साझी संपदा थी। तालाबों, नदियों, कुओं, बावड़ियों को सहेजने के हर इलाके के अपने तरीके थे। लेकिन राजकाज की नई शैली के चलते धीरे-धीरे जल इकाइयों के रखरखाव और इनकी देखरेख के काम से समाज दूर होता गया, वहीं अफसरशाही ने जवाबदेही की कोई संस्कृति नहीं पैदा की। करीब छह साल पहले संयुक्त राष्ट्र ने पानी के अधिकार को बुनियादी मानव अधिकारों में शामिल किया था। भारत के संविधान में पानी का अधिकार अलग से मौलिक अधिकारों में शामिल नहीं है। मगर न्यायपालिका ने कई फैसलों में संविधान के अनुच्छेद इक्कीस के तहत दिए गए जीवन के अधिकार की व्याख्या करते हुए इसमें पानी के अधिकार को शामिल माना है। नागरिकों के अधिकारों की रक्षा के लिए अनुकूल स्थितियां बनाना शासन की जिम्मेदारी है। इस दृष्टि से देखा जाए तो हमारे देश में केंद्र या राज्यों में बनने वाली तमाम पार्टियों की सरकारें अपने संवैधानिक दायित्व के निर्वाह में नाकाम साबित हुई हैं।

यह पहली बार नहीं है जब देश की सर्वोच्च अदालत ने पानी के अधिकार को जीवन के अधिकार का अहम हिस्सा बताया है। मगर इस अधिकार के उल्लंघन को रोकने के लिए जिस मुस्तैदी से नीतियां बनाई जानी और उन पर अमल होना था, वह नहीं हो पाया। पानी को किसी नागरिक का मौलिक अधिकार मानने के नजरिए की तुलना बाजारवादी सोच से की जा सकती है जो इसे खरीद-बिक्री का सामान भर मानता है। शीतल पेय बनाने वाली विदेशी कंपनियों के भारत आने के बाद पानी के निजीकरण का यह आलम हुआ था कि एक नदी तक लीज पर दे दी गई थी। पेयजल की समस्या का एक निदान बारिश का पानी है। सीएसई जैसी संस्थाओं ने दिखाया है कि इसका संग्रहण आसानी से किया जा सकता है। लेकिन सरकारी बेरुखी का आलम यह है कि इसे सरकारी इमारतों तक में लागू नहीं किया जा सका है। पानी के बचे रहने और इस्तेमाल करने लायक होने का सवाल सीधे पर्यावरण की हिफाजत से जुड़ा है। अंधाधुंध विकास के चलते पानी जैसा साझा संसाधन या तो प्रदूषित हो रहा है या चुकता जा रहा है। इसका सबसे ज्यादा खामियाजा गरीबों को उठाना पड़ता है। अगर अब भी इसे बचाने के उपायों पर अमल नहीं किया गया तो संकट से पार पाना मुश्किल बना रहेगा।

पानी का अधिकार

देश में कोई जल नीति नहीं है, जो पानी के असीमित उपयोग पर रोक और बाढ़ व वर्षा जल के प्रबंधन की गाइडलाइन देती हो।

देश में बढ़ते जलसंकट को लेकर सरकार को उसकी जिम्मेदारी की याद दिलाने के लिए सुप्रीम कोर्ट को आगे आना पड़ा है। कोर्ट ने गुजरात की एक संस्था द्वारा दायर याचिका पर बेहद तल्ख लहजे में कहा है कि जो सरकार अपनी जनता को पानी जैसी मूलभूत चीज मुहैया नहीं करवा सकती, उसे सत्ता में रहने का कोई अधिकार नहीं है। सर्वोच्च अदालत की यह टिप्पणी ऐसे समय आई है, जब देश के अधिकांश हिस्से भीषण जल संकट से गुजर रहे हैं। गर्मी बढ़ने के साथ आने वाले महीनों में हालात क्या होंगे, समझना मुश्किल नहीं है। इसीलिए सुप्रीम कोर्ट ने केंद्र सरकार से दो माह के भीतर एक समिति बनाकर जल संकट से निपटने के लिए युद्ध स्तर पर वैज्ञानिक शोध करने के निर्देश दिए हैं। ऐसा नहीं है कि हमारे यहां इंद्र देवता की मेहरबानी कम हो गई है। अब भी देश में औसतन 1170 मिमी बारिश होती है जो विश्व के अधिकांश देशों की तुलना में कहीं ज्यादा है, लेकिन इसके बावजूद हर गर्मी में पानी की समस्या मुंह बाए खड़ी हो जाती है।

दरअसल समस्या जल प्रबंधन की है। विश्व के कई देश कम वर्षा के बावजूद बेहतर जल प्रबंधन नीतियों की वजह से जल संकट से पार पा गए हैं, लेकिन हमारे यहां अब भी इसे लेकर पर्याप्त जागरूकता नहीं है। जमीन के भीतर जो पानी है, उसका अंधाधुंध दोहन किया जा रहा है और बारिश के रूप में हमें जो पानी मिल रहा है, उसे संभालकर रखने में कोई दिलचस्पी नहीं ली जा रही। दुर्भाग्य से देश में ऐसी कोई जल नीति तक नहीं है जो पानी के असीमित उपयोग पर रोक लगाती हो और बाढ़ के पानी व वर्षा जल के प्रबंधन की कोई गाइडलाइन मुहैया करवाती हो। नदियों को जोड़ने की परियोजना शायद इसका एक जवाब हो सकती है, लेकिन पर्यावरणीय बहस और राजनीतिक इच्छाशक्ति के अभाव में वह भी टस से मस नहीं हो रही है। हाल ही में किए गए एक अध्ययन के अनुसार भारत को छह फीसदी की विकास दर बनाए रखने के लिए भी 2031 तक मौजूदा स्तर से चार गुना अधिक पानी की जरूरत होगी। आखिर यह पानी कहां से आएगा? वक्त बड़ी तेजी से गुजरता जा रहा है। वर्षा जल को संरक्षित करने के अलावा समुद्री खारे पानी को मीठे पानी में बदलने की सस्ती तकनीकें जितनी जल्दी ईजाद कर ली जाएं, बेहतर रहेगा। उम्मीद है कोर्ट के ताजा निर्देश के बाद सरकार ठोस कदम उठाएगी।

क्यों बनती है कोई ईरोम शर्मिला ?

वह नौ वर्षों की कैद से रिहा कर दी गई हैं, पर उनके सवाल अब भी वहीं ठहरे हैं

बेमिसाल संघर्ष

कुमार प्रशांत

मणिपुर की ईरोम शर्मिला छानू को न्यायिक हिरासत से रिहा किए लगभग एक महीना होने को आया। लेकिन विडंबना यह है कि इस घटना के बारे में राष्ट्र की मुख्यधारा में कहीं कोई हलचल नहीं है। पिछले कई वर्षों से कितने ही लोगों ने कितने ही स्तरों पर यह बात उठाई कि इस लड़की को इस तरह जेल में रखना किसी भी लोकतांत्रिक और सभ्य समाज के लिए शर्म से डूब मरने की बात है। लेकिन शर्मिला पिछले नौ वर्षों से बिना कोई मुकदमा चलाए न्यायिक हिरासत में रखी गईं। इंफाल के अस्पताल का एक कमरा जेल में तबदील कर दिया गया था और शर्मिला को वहां बंद रखा गया। यही नहीं, नौ वर्षों तक वह अनशन पर रही हैं। उन्होंने अन्न का एक दाना और पानी की एक बूंद अपनी मर्जी से नहीं ली। किसी भूखे के ऐसे सत्याग्रह की बात कभी बापू की कल्पना में भी आई होगी? पता नहीं।

शर्मिला को हिरासत में क्यों लिया गया था? उन्होंने अनशन क्यों किया? दरअसल नौ साल पहले उन्होंने अपने गांव में फौज की ज्यादती देखी थी। उन्होंने देखा कि बस स्टैंड पर खड़े निरीह लोगों पर अचानक गोलियां बरसीं और पल भर पहले जिंदा लोग अचानक लाशों में तबदील हो गए। यह देख वह अचंभित रह गईं। उन्होंने पूछा कि यह क्यों हुआ और किसके आदेश से हुआ? लेकिन जवाब सिर्फ एक मिला, हम किसी को उत्तर देने को बाध्य नहीं हैं! यह जवाब भी स्तंभित कर देने वाला था। फिर बताया गया कि फौज को शक हुआ था कि वहां कोई आतंकवादी छिपा है। शक के आधार पर लोगों की हत्या? इस पर उन्हें बताया गया कि स्पेशल आर्म्ड फोर्सेस ऐक्ट में फौज को अधिकार है कि वह शक के आधार पर कोई भी कार्रवाई कर सकती है, और इसके औचित्य-अनौचित्य के बारे में फौज को कोई जवाब देने की जरूरत नहीं है। शर्मिला को उस रोज जो उत्तर मिला, वैसा जवाब मणिपुर में पहले भी दिया जा चुका था। वहां रोज ही ऐसी घटना घटती है, जिससे लोगों में एक किस्म की असहायता घर करती जाती है।

लेकिन शर्मिला स्तब्ध होने के बावजूद चुप नहीं रहीं। उन्होंने उसी दिन इस लाचारी के खिलाफ लड़ने की ठान ली। उन्होंने इस कानून की वापसी की मांग रखी। उन्होंने ऐलान कर दिया कि जब तक उनकी यह मांग मानी नहीं जाती, वह भूख हड़ताल पर रहेंगी। यह पहला मौका था, जब किसी ने मणिपुर की इस दुखती रग पर हाथ डाला था। सब तरफ से उनकी इस पहल का स्वागत हुआ। मणिपुर के दूर-दराज के इलाकों में भी शर्मिला के समर्थन में जुलूस निकलने लगे, सभाएं होने लगीं। राजनीतिक दलों ने भी इस शर्मिला-लहर में अपनी कश्ती उतारी। केंद्र ने भी उनकी पहल को महत्व देते हुए कहा कि वह उनकी मांग पर विचार कर रहा है।

लोकतांत्रिक भारत के किसी भी कोने में कानून के नाम पर निरीह लोगों के खिलाफ सैन्य कार्रवाई का समर्थन नहीं किया जा सकता

लेकिन जो हवा बनी थी, वह धीरे-धीरे हवा में ही बिलाने लगी। शर्मिला की भूख हड़ताल लंबी हुई, तो उनके पक्ष में जन समर्थन ढीला पड़ने लगा, लोग थकने लगे। राजनीतिक दलों ने जल्दी ही पहचान लिया कि शर्मिला का समर्थन उन्हें आगे मुश्किल में डाल देगा। वह जानते थे कि जब कभी सत्ता उनके पास आएगी, यही कानून उनकी भी बैसाखी बनेगा। इसलिए वह शर्मिला से दूर रहकर उनके नजदीक होने का दिखावा करने लगे। स्थितियां ऐसी बनीं कि कोई भी आदमी अकेलेपन के एहसास से बिखर जाए। लेकिन सत्ता से टकराने के संकल्प ने ही नई शर्मिला को जन्म दिया।

शर्मिला ने इस दौरान एक ही टेक रखी, न कोई बात बदली, न बढ़ाई! वह कहती रहीं, किसी सरकार, पुलिस, फौज को यह अधिकार नहीं होना चाहिए कि वह नागरिकों को दबा-कुचल दे और उसकी कहीं सुनवाई ही न हो! इसलिए जवाबदेही तय होनी चाहिए और जवाबदेही तभी तय हो सकती है, जब सब सांविधानिक व्यवस्था से बंधे हों। इससे ज्यादा लोकतांत्रिक मांग क्या हो सकती है? इसके लिए एक लड़की वर्षों से उपवास ठाने बैठी रहे और सरकारी ताकत उसे जबरन नाक के रास्ते पेय पिलाने में जुटी रहे, तो इसे समूची मानवता के अपमान से कम क्या समझा जाए?

आर्म्ड फोर्सेस स्पेशल पावर ऐक्ट कभी अंगरेजों ने देश के सुदूर कोनों में सिर उठाने वाले आजादी के जज्बे को दबाने के लिए बनाया था। आजादी की आवाज को कुचलने में इसका खूब इस्तेमाल भी हुआ। बाद में यह कानून प्रभावी नहीं रह गया। आजादी के बाद फिर वह दौर आया कि अपनी सरकार को अपने ही लोगों से खतरा लगने लगा। वर्ष 1952 से सरकार मणिपुर में और पूर्वोत्तर के दूसरे प्रांतों में शांति-व्यवस्था बनाए रखने का काम इसी कानून के जरिये करती है।

इस ऐक्ट ने मणिपुर में न तो शांति बहाल की और न आतंकवादी गिरोहों का सफाया किया। बल्कि आजादी के बाद से अब तक वहां आतंकवादी गिरोहों की संख्या कई गुना बढ़ गई है। आतंकवादी जब निकल जाते हैं, तब उनके भूत को पकड़ने के लिए फौज-पुलिस अपने नागरिकों को ही दबाती-डराती-कुचलती है। इस ऐक्ट के कारण मणिपुर के नागरिक भारत से जितने दूर होते जा रहे हैं, उतना दूसरे किसी कारण से नहीं। केंद्र सरकार बार-बार आश्वासन देती रही है कि वह इस कानून को वापस लेने पर विचार कर रही है, लेकिन वह आज तक न विचार कर सकी है, न हिम्मत दिखा पाई है। शर्मिला की हिरासत भले ही खत्म हुई हो, उनके सवाल खत्म नहीं हुए हैं। इसीलिए उनकी भूख हड़ताल भी खत्म नहीं हुई है। फर्क बस यही है कि अब जब खोखले शरीर और अस्फुट आवाज वाली शर्मिला का अंत होगा, तो कोई यह नहीं कहेगा कि उन्होंने सरकारी कैद में दम तोड़ दिया!

वर्षों पहले जब मैं मणिपुर के अस्पताल में उनसे मिला था, तो मेरी इतनी भी हिम्मत नहीं थी कि मैं उनसे वह पूछूं, जिसे अस्पताल जाने पर हम किसी मरीज से पूछते हैं। शर्मिला से मिलना दर्द के सागर में उतरने जैसा था। उसके सामने होने पर इस एहसास को भुलाना आसान नहीं है कि आप एक ऐसी महिला के सामने खड़े हैं, जिसने इनसानियत की बेहतरी के लिए खुद को दांव पर लगा दिया है। वह इतनी पारदर्शी हैं कि आप उनके पास पहुंचकर सहमति-असहमति जैसी बातों से अलग हो जाते हैं। शांति के नोबल पुरस्कार से सम्मानित ईरान की शिरीन इबादी जब भारत आई थीं, तो शर्मिला से खास तौर पर मिली थीं और कहा था कि उनसे मिलना मेरे जीवन के सबसे पीड़ादायक अनुभवों में से एक है! हम सब उस पीड़ा से खुद को जोड़ें और इस महिला को याद रखें, तो सत्य और संकल्प का थोड़ा एहसास बना रहेगा।

(लेखक वरिष्ठ पत्रकार हैं)

नक्सलियों से संबंधों में बंद सेन को दो साल बाद जमानत

नई दिल्ली। सुप्रीम कोर्ट ने सोमवार को सामाजिक कार्यकर्ता बिनायक सेन को जमानत दे दी। नक्सलियों से संबंधों के आरोप में सेन दो साल से ज्यादा समय से छत्तीसगढ़ में जेल में बंद हैं।

न्यायाधीश मार्कंडेय काटजू और दीपक वर्मा की अवकाशकालीन पीठ ने कहा कि स्थानीय ट्रायल कोर्ट संतुष्टि के अनुसार निजी मुचलका पेश किए जाने पर सेन को जमानत प्रदान करे। पीठ ने छत्तीसगढ़ सरकार की ओर से पेश वरिष्ठ अधिवक्ता मुकुल रोहतगी को जमानत दिए जाने के खिलाफ तर्क पेश करने की अनुमति नहीं दी। रोहतगी ने दो बार कुछ कहने की कोशिश की तो पीठ ने उनसे बैठ जाने के लिए कहा। जमानत का विरोध करने के लिए राज्य सरकार के पास मजबूत तथ्य होने की रोहतगी की अपील को भी अदालत ने खारिज कर दिया। सेन की ओर पेश वरिष्ठ अधिवक्ता शांति भूषण को भी अपने तर्क पेश करने का मौका नहीं मिला क्योंकि पीठ ने सेन को रिहा करने के आदेश दे दिए।

चार मई को सुप्रीम कोर्ट ने सेन की जमानत याचिका पर राज्य सरकार को नोटिस जारी किया था। साथ ही दिल की बीमारी से पीड़ित सेन को चिकित्सा सुविधा सुनिश्चित कराने के लिए कहा था। 14 मई 2007 से जेल में बंद सेन ने दावा किया था कि उनके खिलाफ ऐसे कोई सुबूत नहीं हैं, जिसके आधार पर गैरकानूनी गतिविधियां (रोकथाम) अधिनियम लगाया जा सके। छत्तीसगढ़ सरकार ने पीपुल्स यूनियन ऑफ सिविल लिबर्टीज (पीयूसीएल) के उपाध्यक्ष सेन को जेल में बंद एक नक्सली के लिए संदेश वाहक के रूप में काम करने का आरोप लगाते हुए गिरफ्तार कर लिया था। आरोप था कि डॉक्टर के तौर पर जेल में प्रवेश पाने वाले सेन ने नक्सली नेता को पत्र पहुंचाए थे। हालांकि पेशे से डॉक्टर सेन ने इन आरोपों का खंडन किया था। ब्यूरो

डॉ. बिनायक सेन

- छत्तीसगढ़ के दूरस्थ इलाकों के गांव-कस्बों के लोग उन्हें अपने हितचिंतक के रूप में जानते हैं।
- वे लोगों के लिए सस्ती चिकित्सा सुविधाएं उपलब्ध कराने के लिए काम करते रहे हैं।
- सामाजिक स्वास्थ्य कार्यकर्ता तैयार करने के लिए बनी छत्तीसगढ़ सरकार की एक सलाहकार समिति के सदस्य रहे हैं।
- स्वास्थ्य के क्षेत्र में उनके योगदान को क्रिश्चियन मेडिकल कॉलेज, वेल्लोर ने भी सराहा और उन्हें सम्मानित किया

बिनायक सेन जैसे व्यक्ति पर मुकदमे लगाना हमारे लोकतंत्र के लिए शर्मनाक है। अब सरकार को सेन पर से सभी मामले हटा लेने चाहिए।

-डी राजा, भाकपा नेता

देश में हर रोज 250 लोगों के मानवाधिकार का हनन

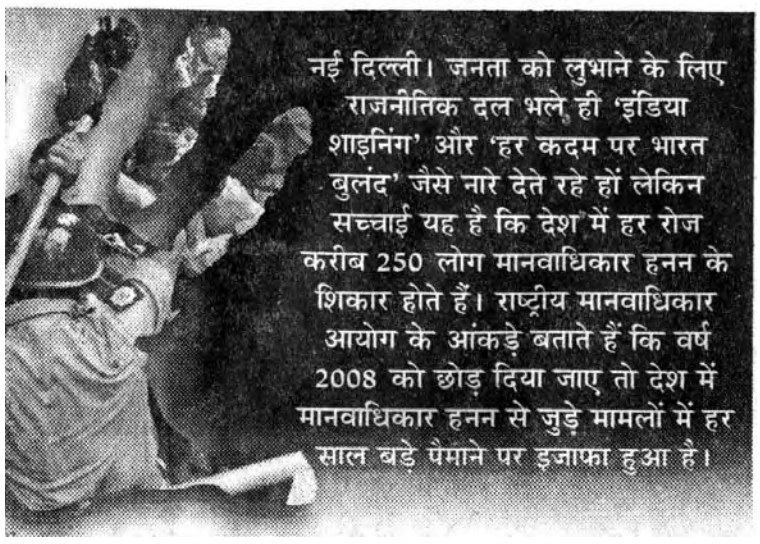

- मानवाधिकार हनन के दर्ज मामलों में आधे से अधिक पुलिस जुल्म के।
- एक जनवरी से 31 दिसम्बर 2008 के बीच 94,559 मामले दर्ज हुए। इस तरह रोजाना 259 लोगों के मानवाधिकार का हनन हुआ।
- 2007 में 98,539 मामले दर्ज हुए जो कि रोजाना 270 का आंकड़ा बैठता है।
- 2006 में 80,971 शिकायतें दर्ज, हर रोज 222 के मानवाधिकारों का हनन।
- 2005 में रोजाना 204 लोगों के मानवाधिकार हनन का मामला सामने आया।
- 2008 में दर्ज मामलों में 35 हजार से अधिक मामले पुलिस जुल्म के थे।
- आयोग में श्रेणीबद्ध न होने वाले आरोप 29,700 से अधिक है।
- अल्पसंख्यक, अनुसूचित जाति/जनजाति और अत्यंत पिछड़े वर्ग के सात लोगों के अधिकारों के रोज हनन संबंधी मामले वर्ष 2008 में दर्ज हुए।
- वर्ष 2008 में बच्चों व किशोरों से जुड़े 725, स्वास्थ्य संबंधी 584 तथा विदेशी व अप्रवासी भारतीयों से संबंधित 44 मामले दर्ज किए गए।
- दंगों से संबंधित 167 मामले आयोग में दर्ज किए गए।

17 महिलाओं के मानवाधिकारों का रोज होता है हनन : देश में जहां एक तरफ महिलाओं को सम्मान, गौरव, आरक्षण और समान अधिकार देने की वकालत हो रही है वहीं दूसरी ओर आयोग के पिछले साल के आंकड़ों के अनुसार देश में रोजाना 17 से अधिक महिलाओं के मानवाधिकारों का हनन होता है।

(एजेंसी)

'गे कल्चर' बनाम सामाजिक स्वीकृति

क्या कहता है कानून

इंडियन पेनल कोड की धारा 377 में समलैंगिकता अपराध है। 1860 में बने कानून में किसी भी तरह के अप्राकृतिक सेक्स पर 10 साल तक की कैद का प्रावधान है। कैद के साथ जुर्माना भी किया जा सकता है।

समर्थकों की दलीलें

- सामाजिक ढांचे में आए बदलाव को स्वीकार करने में बुराई नहीं।
- मुक्त समाज में इसकी अनुमति दी जानी चाहिए।
- जब पूरी दुनिया में स्वीकार किया जा रहा है तो हम भी इसी दुनिया के हिस्से हैं।
- जानवरों के यौन व्यवहार में भी समलैंगिकता देखी गई है। यह केवल इंसानों तक सीमित नहीं है।

विरोधियों का तर्क

- समलैंगिकता को महिमामंडित किया जा रहा है।
- समाज में विकृति आ जाएगी।
- मान्यता देने के बाद ऐसे लोगों की तादाद एकाएक बढ़ सकती है।
- इसे पुरातन भारतीय समाज में भी मान्यता नहीं मिली। मनुस्मृति में इस पर सजा का प्रावधान है।

इतिहास के आईने में

- भारत में अंग्रेजी शासन के दौरान 1860 में धारा 377 का प्रावधान किया गया था। इसे लागू करने वाले थे लॉर्ड मैकाले।
- समलैंगिकता से संतान उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसलिए, इसे अप्राकृतिक और विकृत सेक्स कहा गया।
- दिल्ली उच्च न्यायालय में इस संदर्भ में एक याचिका पर सुनवाई हो रही है और अदालत चाहती है कि सरकार इस पर अपना मत स्पष्ट करे।

दुनिया भर में

समलैंगिकता को दुनिया में धीरे-धीरे मान्यता मिलती जा रही है। फ्रांस, इंग्लैंड, रूस, इटली, जर्मनी और डेनमार्क में समलैंगिकता अपराध नहीं है।

गे मैरिज को मान्यता दे चुके देश

नीदरलैंड, स्पेन, साउथ अफ्रीका, बेल्जियम नार्वे और कनाडा।

अभिरुचियों की आजादी को कानूनी मान्यता दिलाने के लिए राजधानी में परेड निकालते समलैंगिक।

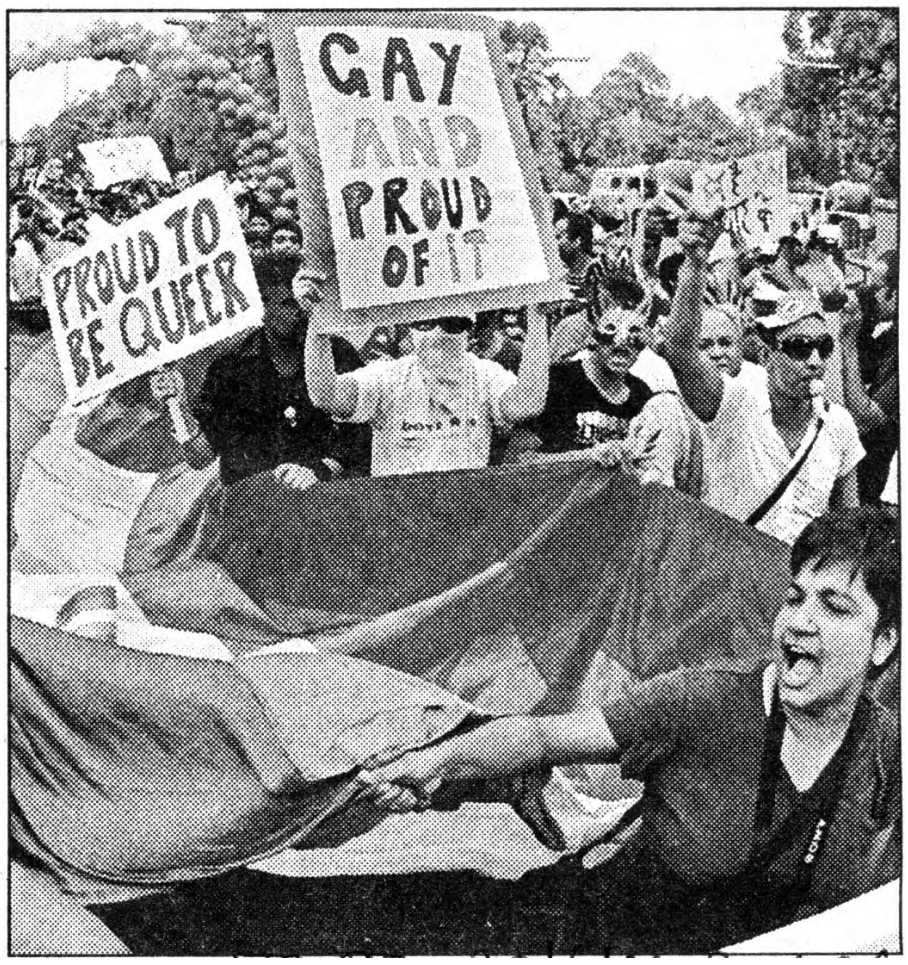

'दोस्ताना' को कानूनी मान्यता के लिए समलैंगिकों की परेड

अनिरुद्ध शर्मा/एसएनबी

नई दिल्ली । 'दोस्ताना' यानी यौन अभिरुचियों की आजादी को कानूनी मान्यता दिलाने के लिए रविवार को राजधानी की सड़कों पर सैकड़ों समलैंगिकों ने मोर्चा निकाला। समलैंगिक चाहते हैं कि सरकार आईपीसी की धारा 377 को खत्म करे, जिसके तहत लेस्बियन, गे, बाईसेक्सुअल, ट्रांसजेंडर व इंटरसेक्सुअल लोग अपराधी माने जाते हैं। उनकी मांग है कि यदि कोई लड़का किसी लड़के से या कोई लड़की किसी लड़की से प्यार करे और उसी के साथ जीवन बिताना चाहे तो उसे देश में इसके लिए कानूनी हक मिलना चाहिए। किसी की सेक्सुअलिटी या यौनिक पसंद के आधार पर उसके साथ भेदभाव व उत्पीड़न बंद हो। वो जैसे हैं, उन्हें उस पर गर्व है, कुछ यही संदेश राजधानी में दूसरी बार निकली दिल्ली क्वियर प्राइड परेड का था।

परेड में शामिल युवाओं ने अपने चेहरे पर रंग-बिरंगे पंख लगे मास्क लगा रखे थे। गालों, बांहों पर रंग-बिरंगे दिल के आकार के टेट् गदवा रखे थे। उनके हाथों में रंगीन झंडियां, गुब्बारे के अलावा नारे लिखी तख्तियां थीं। सीटियां बजाते, ढोल-ताशे की थाप व बैंड की धुनों पर थिरकते लोगों में गजब का उत्साह था। एक दूसरे से गले मिलते या चुंबन लेकर प्यार का इजहार करते इन युवाओं में जोश का ठिकाना न था। परेड में शामिल अधिकतर रईस घरों के कॉलेज स्टूडेंट या पेशेवर युवा प्रतीत हो रहे थे। परेड में अनूठे परिधान पहने हिजड़ों की भी अच्छी खासी तादात थी। परेड में शामिल गुंजन ने बताया कि हम में से ज्यादातर एक दूसरे को जानते भी नहीं है, लेकिन इंटरनेट पर सोशल नेटवर्किंग की साइटों की मदद से अपने आप समुदाय का इतना बड़ा हुजूम इकट्ठा हो गया। सभी अपनी प्रतिष्ठा कायम रखने व अपने अधिकारों की मांग के साथ इस उत्सव में शामिल हुए हैं। उर्वशी ने कहा कि समाज में धीरे-धीरे खुलापन आ रहा है, आज हमारे उत्सव को कवर करने इतना मीडिया आया, यही हमारी बढ़ती स्वीकार्यता का एक सबूत है। पेशे से डिजाइनर गौरव व ऋतिका ने कहा कि मामला च्वॉइस का है। हम किसी लड़के के साथ या किसी लड़की के साथ रहना चाहें तो किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यह तभी संभव है, जब इसको कानूनी मान्यता मिले। परेड में शामिल 80 फीसद से ज्यादा युवाओं का सिगरेट पीने का अंदाज भी कुछ ऐसा था मानो उन्हें समाज की कोई फिक्र नहीं।

समलैंगिक चाहते हैं सरकार खत्म करे धारा 377

सबको इश्क करने का हक है...

नई दिल्ली (एसएनबी)। परेड में शामिल समलैंगिकों ने अपनी भावनाएं व्यक्त करने के लिए नारे लिखी तख्तियों का सहारा लिया। इनमें 'सबको इश्क करने का हक है, यह कोई जुर्म नहीं', 'प्राउड इंडियन लेस्बियन', 'गे एंड प्राउड ऑफ इट', 'किस मी, आई एम क्विअर', 'फ्री हग्स', 'हिंदी, मुस्लिम, सिख, इसाई, हेट्रो-होमो भाई-भाई', 'गर्व से कहो, हम होमो हैं', 'प्यार किया तो डरना क्या', अंग्रेज चले गए और 377 छोड़ गए, 'हेट्रो सेक्सुअलिटी इज नॉट नॉर्मल, इट इज ओनली कॉमन', 'आई हैव राइट टू लव हू आई वांट' जैसे नारे खासतौर पर दिखाई पड़े।

समलैंगिकता अपराध नहीं

■ भारतीय मान्यताओं से हटकर दिल्ली उच्च न्यायालय ने सुनाया ऐतिहासिक फैसला

कोर्ट का फैसला आने के बाद राजधानी में खुशी मनाते गे समर्थक।

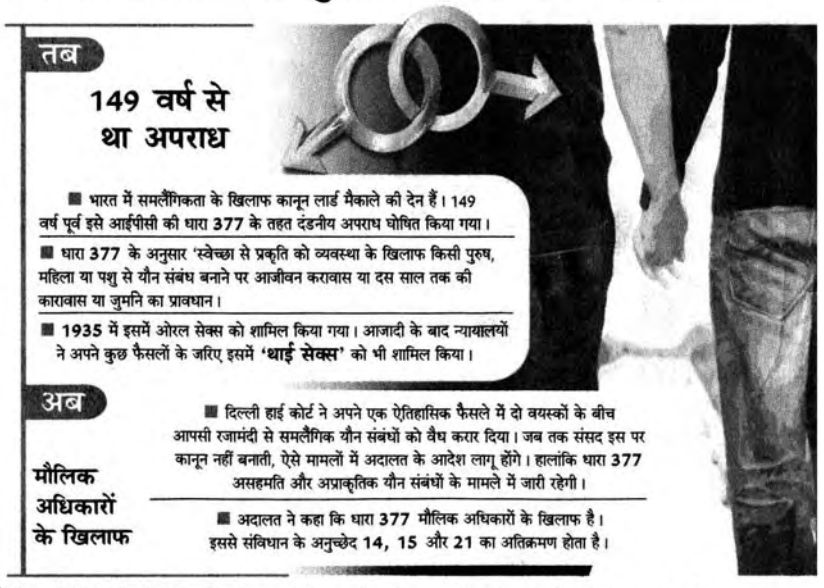

नई दिल्ली (एसएनबी)। अपने ऐतिहासिक फैसले में दिल्ली हाईकोर्ट ने समान लिंग के दो वयस्कों के बीच होने वाले यौनाचार को अपराध की श्रेणी से मुक्त कर दिया है। हाईकोर्ट ने इसे अपराध बताने वाली भारतीय दंडविधान की धारा 377 के प्रावधानों को लोगों के मौलिक अधिकारों का हनन बताते हुए कहा कि यह धारा वैध नहीं है। हालांकि हाईकोर्ट ने यह साफ कर दिया है कि नाबालिगों से और मर्जी के बगैर समलैंगिक यौनाचार अपराध बना रहेगा। हाईकोर्ट ने यह फैसला गैर-सरकारी संगठन 'नाज फाउंडेशन' की उस जनहित याचिका पर बृहस्पतिवार को दिया, जिसमें समान लिंग के दो वयस्कों के बीच आपसी सहमती से होने वाले यौनाचार को अपराधमुक्त करने की मांग की गई थी।

मुख्य न्यायाधीश न्यायमूर्ति एपी शाह एवं एस मुरलीधर की दो सदस्यीय खंडपीठ ने अपने इस महत्वपूर्ण फैसले में कहा कि जहां तक समान लिंग के दो वयस्कों के बीच यौनाचार की बात है तो यह संविधान के अनुच्छेद 14, 15 एवं 21 का उल्लंघन है। पीठ ने कहा कि आईपीसी की धारा 377 का प्रावधान नाबालिगों, वयस्कों के बीच बगैर मर्जी के बने समलैंगिक संबंध व अप्राकृतिक यौनाचार के मामले में जारी रहेगा।

हाईकोर्ट ने कहा कि वयस्क से मतलब 18 साल या इससे अधिक उम्र के व्यक्ति से है। आईपीसी की धारा 377 के प्रावधानों की आलोचना करते हुए अदालत ने कहा कि कानून का एक प्रावधान जो समाज के एक वर्ग को अपराधी ठहरा देता है, वह राज्य के उस वर्ग की नैतिक अस्वीकारोक्ति पर आधारित है जो संविधान में दी गई समानता की गारंटी के खिलाफ है। धारा 377 न सिर्फ संवैधानिक मूल्यों के खिलाफ है बल्कि यह मानवीय भावनाओं के विरुद्ध भी है, जो हमारे संविधान का मूल-मंत्र है। यौन इच्छाओं के आधार पर किसी के साथ भेदभाव संविधान के अनुच्छेद 15 के खिलाफ है जिसमें कहा गया है कि देश के किसी भी नागरिक के साथ लिंग, धर्म, जाति व जन्मस्थान के आधार पर भेदभाव नहीं किया जाएगा। हाईकोर्ट ने 105 पृष्ठों के इस ऐतिहासिक फैसले में कहा कि जहां तक हमारा (कोर्ट) विचार है भारतीय संवैधानिक कानून इस बात की इजाजत नहीं देता है कि वैधानिक आपराधिक कानून समलैंगिकों व उभयलिंगियों के प्रति फैली गलतफहमियों से बंधा रहे। पीठ ने अपने फैसले में कहा कि हमें यह नहीं भूलना चाहिए की भेदभाव से समाज में असमानता फैलती है। आज का यह फैसला समानता को मान्यता देता है। संसद जब तक कानून में संशोधन कर प्रावधान नहीं कर देती, यह फैसला प्रभावी रहेगा।

हाईकोर्ट ने समलैंगिकों के अधिकारों की लड़ाई लड़ रहे नाज फाउंडेशन एवं गैर सरकारी संगठन की याचिका को मंजूर करते हुए साफ कर दिया कि इस फैसले के आधार पर आईपीसी की धारा 377 के उन अपराधिक मामलों को दोबारा खोले जाने के रूप में नहीं निकलेगा, जिनमें अंतिम फैसला आ चुका है या आने वाला है। मुख्य न्यायाधीश न्यायामूर्ति शाह ने कहा है कि अधिसंख्य लोगों द्वारा बुरा या अलग ठहराए गए लोग इतने भी बुरे नहीं होते कि उनको समाज से अलग कर दिया जाए। उन्होंने कहा कि जो समाज समावेश व समझ का प्रदर्शन कर सकता है, उस समाज में ऐसे लोगों को गरिमा के साथ जीवन जीना और उनके साथ किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाना सुनिश्चित किया जा सकता है।

अदालत ने 13 दिसम्बर, 1946 में भारतीय संविधानसभा में चर्चा के दौरान पूर्व प्रधानमंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरू की ओर से लाए गए एक प्रस्ताव का जिक्र करते हुए कहा कि उनके प्रस्ताव के पीछे यही भावना थी जिस पर पंडित नेहरू ने भावनात्मक रूप से खुलकर विचार व्यक्त किए थे। पंडित नेहरू चाहते थे कि सदन इस पर संकीर्ण कानूनी शब्दों से बंध कर विचार न करे, बल्कि इसके पीछे छिपी भावनाओं को समझे।

आर्डर...आर्डर...आर्डर.....

'हमारे विचार में भारतीय संविधान के अनुसार आपराधिक कानून की किसी धारा की गलत समझ के कारण संविधान को ताक पर नहीं रखा जा सकता। हम ये भूल नहीं सकते कि भेदभाव बराबरी के सिद्धांत के खिलाफ है और किसी व्यक्ति का आत्मसम्मान समानता के कारण ही आता है।'

- दिल्ली उच्च न्यायालय

अब क्या करेगी सरकार

कानून मंत्री वीरप्पा मोइली और स्वास्थ्य मंत्री गुलाम नबी आजाद के बीच शीघ्र ही बैठक होगी जिस दौरान आईपीसी की धारा 377 को खत्म करने या उच्च न्यायालय के फैसले के खिलाफ अपील करने को लेकर अंतिम फैसला किया जाएगा।

बदलाव का सूचक

फैसला समलैंगिकों के प्रति दृष्टिकोण में बदलाव का सूचक है। गोपालन ने कहा हर धर्म में समलैंगिक हैं। जो धार्मिक समूह कह रहे हैं वे गलत हैं। उनकी सोच बदल सकती है।

- अंजलि गोपालन (नाज फाउंडेशन)

धर्मगुरुओं ने बताया संस्कृति के खिलाफ

करीब-करीब सभी धर्म गुरुओं ने समलैंगिक रिश्तों पर कोर्ट की मान्यता को न सिर्फ खारिज किया, बल्कि इसे भारतीय संस्कृति के खिलाफ बताया। विश्व हिन्दू परिषद ने तो निर्णय को सुप्रीम कोर्ट में चुनौती देने का फैसला किया है। योग गुरु बाबा रामदेव ने कहा, मानसिक रूप से बीमार ही बनाते हैं समलैंगिक रिश्ते। जामा मस्जिद के शाही इमाम अब्दुल्ला बुखारी ने फैसले को गलत बताया।

निशुल्क प्रतियों के लिए संपर्क करें -

जागोरी बी-114 शिवालिक मालविया नगर, नई दिल्ली-110017, फ़ोनः 26691219, 26691220

email: resource@jagori.org/jagori@jagori.org